MAA OMWATI DEGREE COLLEGE HASSANPUR (PALWAL)

Notes

B.com.- 6th Sem
Financial management

9

वित्तीय प्रबंध की प्रकृति एवं क्षेत्र
(Nature and Scope of Financial Management)

परिचय
(Introduction)

वित्त (finance) का अर्थ है आवश्यकता के समय धन की व्यवस्था। व्यावसायिक संस्थाओं में वित्त के महत्त्व को वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक संस्था को, चाहे वह बड़ी हो या छोटी, अपनी क्रियाओं को चलाने और विस्तार करने के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। वित्त सभी व्यावसायिक क्रियाओं की चाबी है। किसी भी फर्म की सफलता और यहाँ तक की उसका अस्तित्व भी इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी कुशलता से वित्त को प्राप्त करती है और इसका प्रयोग करती है।

व्यावसायिक संस्थाओं के लिए वित्त का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि इसने 'वित्तीय प्रबंध' को एक अलग विषय के रूप में जन्म दिया है। वित्तीय प्रबंध, प्रबंधकीय प्रक्रिया का वह अंग है जो फर्म के वित्तीय संसाधनों के नियोजन और नियन्त्रण से संबंध रखता है। इसका संबंध सबसे उपयुक्त स्त्रोतों से कोषों को प्राप्त करने और उन कोषों के कुशल प्रयोग से है। प्राचीन समय में वित्तीय प्रबंध 'अर्थशास्त्र' की शाखा था और अलग विषय के रूप में इसका प्रादुर्भाव अभी कुछ समय पूर्व ही हुआ है। यह अभी भी विकासशील अवस्था में है और इसके ज्ञान का अभी तक कोई विशेष व्यवस्थित रूप नहीं है। यह विषय प्रबंधकों के लिए अति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वित्त से संबंधित निर्णय फर्म के सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णयों में से होते हैं।

वित्तीय प्रबंधक की बदलती भूमिका (Changing Role of Financial Manager)
अथवा
व्यावसायिक वित्त का विकास अथवा क्षेत्र (Evolution or Scope of Business Finance)
अथवा
वित्त कार्य या वित्तीय प्रबंध की विचारधाराएँ
(Approaches to Finance Function or Financial Management)

एक अलग विषय के रूप में वित्तीय प्रबंध का विकास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ जिसका कारण व्यावसायिक संस्थाओं के आकार में वृद्धि होना था। एक अलग विषय के रूप में वित्तीय प्रबंध के क्षेत्र और विस्तार में आधारभूत परिवर्तन हुए हैं। अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में इसका कार्य आवश्यक कोष (Funds) इकट्ठा करने तक ही सीमित था। वर्तमान समय में सार्वभौमिक रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि इसका संबंध कोषों को इकट्ठा करने के अतिरिक्त उनके कुशल प्रयोग से भी है। व्यवसाय की पेचीदा समस्याओं को हल करने में वित्तीय प्रबंध की भूमिका निरन्तर बढ़ती जा रही है। वित्तीय प्रबंध की बढ़ती हुई भूमिका को स्पष्ट करने के लिए वित्त कार्य के क्षेत्र (Scope) अथवा विचारधाराओं (Approaches) का अध्ययन आवश्यक है। व्रित्त कार्य की विचारधाराओं को मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (1) परम्परागत विचारधारा (Traditional Approach); और (2) आधुनिक विचारधारा (Modern Approach).

(1) वित्त कार्य की परम्परागत विचारधारा (Traditional Approach of Finance Function) :

इस विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबंध की भूमिका उचित शर्तों पर कोषों को इकट्ठा करने तक ही सीमित थी। कोषों का प्रयोग करना वित्तीय प्रबंध के क्षेत्र से बाहर समझा जाता था। इस विचारधारा के अन्तर्गत कोषों को इकट्ठा करने के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन बातों का अध्ययन किया जाता था :

(*i*) वित्त के संस्थागत स्त्रोत

(*ii*) पूँजी बाजार से वित्त इकट्ठा करने के लिए वित्तीय प्रपत्रों (Financial Instruments) का निर्गमन

(*iii*) व्यवसाय तथा इसके वित्त के स्त्रोतों के मध्य वैधानिक तथा लेखांकन संबंध।

परम्परागत विचारधारा की मुख्य विशेषतया यह मान्यता थी कि वित्तीय प्रबंधक का कार्य बाह्य पक्षकारों से वित्त एकत्रित करना मात्र था और उसका आन्तरिक वित्तीय निर्णय लेने से कोई संबंध नहीं था। वह कोषों के कुशल प्रयोग के लिए उत्तरदायी नहीं होता था।

परम्परागत विचारधारा की सीमाएँ
(Limitations of Traditional Approach)

परम्परागत विचारधारा बीसवीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य तक प्रचलित रही। इस विचारधारा का अब त्याग कर दिया गया है क्योंकि इसकी निम्नलिखित सीमाएँ हैं :

(*i*) **कोषों को इकट्ठा करने पर अधिक ध्यान** (More Emphasis on Raising o Funds)—यह विचारधारा बाह्य पक्षों से वित्त एकत्रित करने पर ही अधिक ध्यान देती है और कोषों वे कुशल प्रयोग से संबंधित बातों की अवहेलना करती है। क्योंकि यह कोषों को एकत्रित करने से ही संबंधि है अत: यह वित्त प्रदान करने वाले बाह्य पक्षों के दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देती है जैसे कि वित्ती संस्थाएँ, बैंक, विनियोक्ता इत्यादि और उन आन्तरिक व्यक्तियों की पूर्णतया अवहेलना करती है जो वित्त निर्णय करते हैं।

(*ii*) **गैर-निगमित उपक्रमों की वित्तीय समस्याओं की उपेक्षा** (Ignores the Financ Problems of Non-corporate Enterprises) — यह निगमित उपक्रमों की वित्त प्राप्ति की समस्य पर ही अधिक ध्यान देती है। गैर-निगमित उपक्रम जैसे कि एकाकी स्वामित्व और साझेदारी फर्में इसके से बाहर माने जाते हैं। अत: यह वित्तीय कार्य के क्षेत्र को संकुचित करती है।

(*iii*) **विशेष घटनाओं के घटने पर वित्त प्राप्ति की समस्याओं पर अधिक ध्यान** (M Concerned to the Problems of Raising Finance on the Occurrence of Special Events यह विचारधारा कुछ विशेष घटनाओं जैसे फर्म का प्रवर्तन, समामेलन, सम्मिश्रण, पुनर्गठन आदि के वित्त प्राप्त करने की समस्याओं पर अधिक ध्यान देती है और एक सामान्य फर्म की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं पर कोई ध्यान नहीं देती है।

(*iv*) **दीर्घकालीन वित्त पर विशेष ध्यान** (Special Attention on Long Financing)—यह विचारधारा दीर्घकालीन वित्त से संबंधित समस्याओं को अधिक महत्त्व देती कार्यशील पूँजी से संबंधित वित्तीय समस्याओं को इस विचारधारा के क्षेत्र से बाहर समझा जाता है।

इस प्रकार यह विचारधारा वित्तीय प्रबंधक की मूलभूत समस्याओं की उपेक्षा करती है और प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ रहती है जैसे क्या एक संस्था को किसी विशेष प्रोजैक्ट में कोषों का करना चाहिए? संस्था के लिए कोषों की क्या लागत है? वित्त की विभिन्न विधियों के मिश्रण से क्या परिवर्तन आता है? क्या अनुमानित दर (expected return) वित्तीय प्रमापों के अनुरूप है प्रमापों का निर्धारण किस प्रकार किया जाए? इन महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर ध्यान न देने के कारण प

विचारधारा वित्तीय प्रबंध का एक बहुत ही संकीर्ण क्षेत्र प्रस्तुत करती थी। आधुनिक विचारधारा उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर देती है।

(2) वित्त कार्य की आधुनिक विचारधारा (Modern Approach of Finance Function) :

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य से व्यावसायिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण परम्परागत विचारधारा की उपयोगिता बिल्कुल समाप्त हो गई। अनेक घटकों जैसे तकनीकी खोज, व्यावसायिक संस्थाओं के बढ़ते हुए आकार, अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा इत्यादि के कारण व्यावसायिक संसाधनों का कुशल और प्रभावपूर्ण उपयोग आवश्यक हो गया। परिणामस्वरूप, वित्तीय प्रबंध के क्षेत्र में परिवर्तन हुआ और आधुनिक विचारधारा का विकास हुआ।

आधुनिक विचारधारा वित्तीय प्रबंध को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करती है। इस विचारधारा के अनुसार, वित्तीय कार्य में कोषों की प्राप्ति के साथ-साथ उनका कुशल प्रयोग भी सम्मिलित है। यह विचारधारा व्यवसाय की वित्तीय समस्याओं पर विचार करने का एक विश्लेषणात्मक (Analytical) दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। इस विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबंध तीन महत्वपूर्ण वित्तीय समस्याओं के हल करने से संबंधित है :

(*i*) एक व्यावसायिक संस्था में विनियोजित होने वाले कोषों की कुल राशि कितनी होनी चाहिए ?

(*ii*) आवश्यक कोष किन साधनों से एकत्रित करने चाहिए ?

(*iii*) व्यावसायिक संस्था को कोषों का विनियोग किन-किन सम्पत्तियों में करना चाहिए ?

इन तीनों समस्याओं में किसी भी व्यावसायिक संस्था की अधिकांश वित्तीय समस्याएँ आ जाती हैं। अतः आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबंध तीन प्रकार के निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी है : (*i*) वित्त की व्यवस्था संबंधी निर्णय, (*ii*) विनियोग निर्णय और (*iii*) लाभांश नीति संबंधी निर्णय।

आधुनिक विचारधारा की विशेषताएँ (Characteristics of Modern Approach)

अथवा

वित्तीय प्रबंध की प्रकृति या विशेषताएँ (Nature or Characteristics of Financial Management)

(1) **वित्तीय प्रबंध उच्च प्रबंध का एक अनिवार्य अंग है** (Financial Management is an Essential Part of Top Management) – परम्परागत विचारधारा में वित्तीय प्रबंध को उच्च स्तरीय प्रबंधकीय निर्णय में गैर- महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता था। परन्तु आधुनिक व्यवसाय प्रबंध में वित्तीय प्रबंधक उच्च प्रबंध टोली के सक्रिय सदस्यों में से एक होता है और जटिल प्रबंधकीय समस्याओं के हल करने में उसकी भूमिका दिन-प्रतिदिन महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। इसका कारण यह है कि लगभग सभी व्यावसायिक क्रियाएँ जैसे कि उत्पादन, विपणन आदि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वित्त की प्राप्ति और उपयोग से संबंधित हैं।

(2) **वर्णनात्मक कम तथा विश्लेषणात्मक अधिक** (Less Descriptive and more Analytical) – आधुनिक वित्तीय प्रबंध वर्णनात्मक कम तथा विश्लेषणात्मक अधिक है। वित्तीय विश्लेषण की नई-नई सांख्यिकीय तथा लेखांकन तकनीकों के विकास के कारण वित्तीय प्रबंध अब कई सम्भावित विकल्पों में से श्रेष्ठ विकल्प का चुनाव करता है।

(3) **निरन्तर कार्य** (Continuous Function) – वित्तीय प्रबंध एक निरन्तर चलने वाला कार्य है। वित्त की प्राप्ति के अतिरिक्त, एक संस्था को वित्त के नियोजन और नियन्त्रण की निरन्तर आवश्यकता होती है। व्यवसाय की सामान्य गतिविधियों के दौरान भी एक फर्म निरन्तर वित्तीय कार्य करती रहती है।

(4) **लेखांकन कार्य से भिन्न** (Different from Accounting Function) – लेखांकन और

HD W

वित्तीय कार्य में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। लेखांकन सूचनाएँ अथवा आँकड़े प्रदान करता है जबकि वित्तीय कार्य में वित्तीय निर्णय लेने के लिए आँकड़ों का विश्लेषण और प्रयोग किया जाता है।

(5) **व्यापक क्षेत्र** (Wide Scope) – वित्तीय प्रबंध का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसके क्षेत्र में न केवल वित्त को प्राप्त करना ही सम्मिलित है बल्कि वित्त का आबंटन और इसका कुशल प्रयोग भी सम्मिलित है। यह वित्तीय लेखांकन, लागत लेखांकन, अंकेक्षण, बजटिंग, रोकड़ के प्रबंध, प्राप्य राशियों के प्रबंध, स्टॉक के प्रबंध के लिए भी उत्तरदायी है।

(6) **केन्द्रीयकृत स्वभाव** (Centralised Nature) – वित्तीय प्रबंध केन्द्रीयकृत स्वभाव का है। जहाँ उत्पादन प्रबंध, विपणन प्रबंध और कर्मचारी प्रबंध के कार्यों का विकेन्द्रीकरण सम्भव है वहाँ वित्तीय उत्तरदायित्व का विकेन्द्रीकरण न तो सम्भव ही है और न ही वांछनीय।

(7) **कार्य निष्पति का माप** (Measurement of Performance) – वित्तीय प्रबंध वित्त के बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग से संबंधित है। यह कुछ मापदन्ड या प्रमाप निर्धारित करता है जिनसे किसी विनियोग निर्णय के लाभों का मिलान किया जाता है। अन्य शब्दों में, वित्त की लागत और इस वित्त के प्रयोग से प्राप्त आय का मिलान किया जाता है। इस प्रकार यह संस्था के निर्धारित वित्तीय लक्ष्य को प्राप्त करने से संबंधित है।

(8) **वित्तीय और अन्य क्रियाओं के बीच अटूट संबंध** (Inseparable Relationship Between Finance and Other Activities) – वित्तीय क्रियाओं तथा अन्य क्रियाओं जैसे उत्पादन, विपणन आदि के बीच एक अटूट संबंध है। सभी क्रियाओं का वित्त से संबंध होता है। उदाहरण के लिए, एक नई मशीन क्रय करना अथवा एक पुरानी मशीन की पुनः स्थापना करना स्पष्ट रूप से उत्पादन विभाग का दायित्व है परन्तु यह वित्त से भी संबंधित है। इसी प्रकार, कर्मचारियों की भर्ती, विज्ञापन, विक्रय प्रवर्तन सभी में वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होती है।

(9) **सभी प्रकार के संगठनों पर लागू** (Applicable to All Types of Organisations) – यह सभी प्रकार के संगठनों पर लागू होता है चाहे वह निगमित हों अथवा गैर-निगमित जैसे कि एकाकी स्वामित्व और साझेदारी फर्में इत्यादि। इसी प्रकार, यह उन संगठनों पर भी लागू होता है जो निर्माणी हों अथवा सेवा संगठन। यह गैर-लाभकारी संगठनों की क्रियाओं पर भी लागू होता है।

अतः आधुनिक विचारधारा परम्परागत विचारधारा की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सोलोमन इजरा के शब्दों में ''नई विस्तृत विचारधारा का उद्देश्य कोषों के अनुकूलतम उपयोग, एकत्रित करने एवं बँटवारे से संबंधि विवेकपूर्ण नीतियाँ निर्माण करना है।'' (''The new broader approach aims at formulatin rational policies for optimum use, procurement and allocation of funds.'' —**Soloma Ezra**)

परम्परागत और आधुनिक विचारधारा के प्रमुख लक्षणों (Salient Features) **की तुलना :**

परम्परागत विचारधारा (Traditional Approach)	आधुनिक विचारधारा (Modern Approach)
1. इस विचारधारा का क्षेत्र आवश्यकता के समय कोषों को एकत्रित करने तक सीमित था।	यह विचारधारा न केवल कोषों को एकत्रित क बल्कि उनके कुशल प्रयोग से भी संबंधित है।
2. यह वित्त प्रदान करने वाले बाह्य पक्षों के दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देती है जैसे कि वित्तीय संस्थाएँ, बैंक, विनियोक्ता आदि।	यह आन्तरिक पक्षों अर्थात् वित्त का उपयोग क वालों के दृष्टिकोण को अधिक महत्व देती है।
3. इसमें दीर्घकालीन वित्त पर विशेष ध्यान दिया जाता था।	इसमें दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन (कार्य पूँजी) दोनों प्रकार के वित्त पर ध्यान दिया जात

निगमित उपक्रमों (Corporate Entities) की प्राप्ति की समस्याओं पर ही अधिक ध्यान दिया था।	यह सभी प्रकार के वित्तीय संगठनों चाहे वह निगमित हों या गैर-निगमित जैसे कि एकाकी व्यवसायों एवं साझेदारी पर लागू होती है।

वित्तीय प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Financial Management)

त्तीय प्रबंध व्यावसायिक प्रबंध का अति महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग है। इसका तात्पर्य प्रबंधकीय के उस भाग से है जो किसी संस्था के वित्तीय संसाधनों के नियोजन और नियन्त्रण से संबंधित है। था के लिए वित्त इकट्ठा करने और वित्त के कुशल प्रयोग से संबंध रखता है। इसमें विनियोग निर्णय, निर्णय, लाभांश निर्णय, तरलता निर्णय, पूँजी बजटिंग, बजटरी नियन्त्रण इत्यादि सम्मिलित होते हैं। प्रबंध अथवा वित्त कार्य को निम्न प्रकार परिभाषित किया जा सकता है :

"वित्त कार्य व्यवसाय द्वारा कोषों को प्राप्त तथा उपयोग करने की प्रक्रिया है।"

—आर. सी. ओसबर्न

"वित्तीय प्रबंध व्यवसाय की ऐसी संचालनात्मक क्रिया है जो कुशल क्रियाओं के लिए आवश्यक वित्त को प्राप्त करने एवं उसका प्रभावकारी ढंग से उपयोग करने के लिए उत्तरदायी होती है।"

—जोसेफ. एल. मैसी

"वित्तीय प्रबंध व्यावसायिक प्रबंध का वह क्षेत्र है जिसका संबंध पूँजी के विवेकपूर्ण उपयोग तथा पूँजी के साधनों के सतर्कतापूर्ण चयन से है, ताकि व्यय करने वाली ईकाई अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा की तरफ बढ़ सके।"

—जोसेफ. एफ. ब्रेडले

"वित्तीय प्रबंध का अर्थ उस क्रिया से होता है, जो उपक्रम के उद्देश्यों एवं वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पूँजी कोषों के संग्रहण एवं उनके प्रशासन से संबंध रखती है।" —व्हीलर

वित्तीय प्रबंध के कार्य
(Functions of Financial Management)

य प्रबंध के तीन प्रमुख कार्य हैं : (*i*) वित्त इकट्ठा करना, (*ii*) इसे सम्पत्तियों में विनियोजित (*iii*) सम्पत्तियों से प्राप्त आय को अंशधारियों में वितरित करना। इन तीन कार्यों को क्रमश: वित्त र्णय (Financing decision), विनियोग निर्णय (Investment decision) और लाभांश नीति ividend Policy decision) कहा जाता है। इन वित्तीय कार्यों को करते समय कुछ अन्य कार्य ड़ते हैं जैसे कि कार्यशील पूँजी (Working Capital) संबंधी निर्णय लेना और वित्त का नियोजन

"The finance function is the process of acquiring and utilising funds by a business." — *R.C. Osborn*

"Financial management is the operational activity of a business that is esponsible for obtaining and effectively utilizing the funds necessary for fficient operations." — *Joseph L. Massie*

'Financial Management is that area of business management devoted to a udicious use of capital and careful selection of sources of capital in order to nable a spending unit to move in the direction of reaching its goals." — *Joseph F. Bradley*

'Financial Management is the activity which is concerned with the cquisition and administration of capital funds in meeting the financial needs nd overall objectives of business enterprise." — *Wheeler*

और नियन्त्रण करना। इन सभी वित्तीय कार्यों के कुशल निष्पादन के लिए कुछ दैनिक प्रकृति के कार्य (Routine Functions) भी किए जाते हैं। अत: वित्त के निम्नलिखित कार्य हैं :

(*i*) वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण (Determining the Financial Needs)
(*ii*) वित्त व्यवस्था निर्णय (Financing Decision)
(*iii*) विनियोग निर्णय (Investment Decision)
(*iv*) कार्यशील पूँजी निर्णय (Working Capital Decision)
(*v*) लाभांश नीति निर्णय (Dividend Policy Decision)
(*vi*) वित्तीय नियन्त्रण (Financial Control)
(*vii*) दैनिक प्रकृति के कार्य (Routine Functions)

(*i*) **वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण** (Determining the Financial Needs) – वित्तीय प्रबंध का प्रथम कार्य व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाना और निर्धारण करना है। इसके लिए व्यवसाय की अल्प-कालीन और दीर्घ-कालीन वित्तीय आवश्यकताओं का अलग-अलग अनुमान लगाया जाता है। वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण सामने रखकर किया जाता है जिससे कि भविष्य में विस्तार के लिए तथा संयत्र और मशीनरी के नवीनीकरण के लिए आवश्यक कोष उपलब्ध हो सकें। वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण करते समय वित्तीय प्रबंध को व्यवसाय की प्रकृति, भविष्य में विस्तार की सम्भावनाओं, जोखिम के प्रति प्रबंध के दृष्टिकोण, सामान्य आर्थिक परिस्थितियों, आदि को ध्यान में रखना चाहिए।

(*ii*) **वित्त व्यवस्था निर्णय** (Financing Decision) – यह कार्य विभिन्न साधनों से वित्त संग्रहण करने से संबंधित है। इस उद्देश्य के लिए वित्तीय प्रबंधक को ऋण और समता अनुपात निर्धारित करना होता है। अर्थात् कुल कोषों का कितना भाग ऋणों से इकट्ठा किया जाएगा और कितना भाग अंशधारियों द्वारा प्रदान किया जाएगा। ऋण और समता के मिश्रण को ही फर्म का पूँजी ढाँचा (Capital Structure) अथवा लीवरेज (Leverage) कहा जाता है। ऋणों द्वारा कोष प्राप्त करने से अंशधारियों को उपलब्ध लाभ दर में वृद्धि होती है परन्तु इससे जोखिम में भी वृद्धि होती है। अत: ऋण और समता के बीच एक उचित संतुलन स्थापित करना होगा। ऐसे पूँजी ढाँचे को जिसमें ऋण और समता के बीच उचित अनुपात हो 'अनुकूलतम पूँजी ढाँचा' (Optimum Capital Structure) कहा जाता है। जब अंशधारियों को उपलब्ध लाभ दर अधिकतम और जोखिम न्यूनतम होता है तो कम्पनी के अंशों का प्रति अंश बाजार मूल्य भी अधिकतम हो जाएगा और ऐसी अवस्था में फर्म का पूँजी ढाँचा अनुकूलतम माना जाएगा। पूँजी संग्रहण करने के लिए प्रविवरण निर्गमित किया जाता है और अभिगोपकों (Underwriters) की सेवाओं का उपयोग किया जाता है।

(*iii*) **विनियोग निर्णय** (Investment Decision) – विनियोग निर्णय जिसे पूँजी बजटिंग भी कहते हैं, उन दीर्घकालीन सम्पत्तियों अथवा परियोजनाओं के चुनाव करने से संबंध रखता है जिनमें व्यवसाय द्वारा विनियोग किया जाएगा। दीर्घ-कालीन सम्पत्तियाँ उन सम्पत्तियों को कहते हैं जिनसे भविष्य में दीर्घकाल तक लाभ प्राप्त होता रहेगा। विनियोग निर्णय करना काफी जोखिम का कार्य है क्योंकि भविष्य के लाभों को मापना काफी कठिन होता है और इनका सही-सही पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। अत: विनियोग निर्णयों का मूल्यांकन सम्भावित लाभ दर और जोखिम, दोनों ही के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त, त्याय की न्यूनतम आवश्यक दर (Minimum required rate of return) भी निर्धारित की जाती है जिसे ut-off rate भी कहते हैं और इस दर से नये विनियोग से होने वाली सम्भावित दर (expected return) ी तुलना की जाती है।

(ix) **कार्यशील पूँजी निर्णय** (Working Capital Decision) – यह निर्णय चालू सम्पत्तियों के प्रबंध से संबंधित है। वित्तीय प्रबंध का यह एक आवश्यक कार्य है क्योंकि दीर्घ-कालीन सफलता के लिए अल्प-काल में फर्म का जीवित रहना अनिवार्य है। चालू सम्पत्तियों का प्रबंधन इस प्रकार से किया जाना चाहिए जिससे कि चालू सम्पत्तियों में विनियोग न तो अपर्याप्त हो और न ही इतना कि अनावश्यक कोष चालू सम्पत्तियों में फँसे पड़े रहें। यदि किसी फर्म के पास पर्याप्त मात्रा में चालू सम्पत्तियाँ नहीं हैं अर्थात् इसने चालू सम्पत्तियों में अपर्याप्त विनियोग किया हुआ है तो यह गैर-तरलता (Illiquidity) की स्थिति में आ सकती है जिससे कि वह अपने चालू उत्तरदायित्वों का भुगतान नहीं कर पाएगी और दिवालियापन का जोखिम उठाएगी। इसके विपरीत, यदि चालू सम्पत्तियों में विनियोग आवश्यकता से अधिक है तो इसका फर्म की लाभदायकता पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा क्योंकि बेकार पड़ी चालू सम्पत्तियाँ कुछ भी लाभार्जन नहीं करेंगी। अतः वित्तीय प्रबंध को चालू सम्पत्तियों का प्रबंध करने की एक सुदृढ़ तकनीक विकसित करनी होगी। इसे फर्म की कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं का सही पूर्वानुमान लगाना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि जब भी आवश्यकता होगी उसी समय कोष उपलब्ध करा दिए जाएँगे।

(x) **लाभांश नीति निर्णय** (Dividend Policy Decision) – वित्तीय प्रबंध को यह निर्णय करना होता है कि लाभों का कितना भाग अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित करना है और कितना भाग व्यवसाय में ही रखना है। इस उद्देश्य के लिए वित्तीय प्रबंध को लाभांश स्थायित्व, बोनस अंश और प्रचलित नकद लाभांश आदि तत्वों को ध्यान में रखना चाहिए। जो कम्पनियाँ लाभ में चल रही हैं वह प्रायः नियमित रूप से नकद लाभांश देती हैं और समय-समय पर समता अंशधारियों को बोनस अंश भी निर्गमित करती हैं।

(xi) **वित्तीय नियन्त्रण** (Financial Control) – वित्तीय नियन्त्रण करने की तकनीकों की स्थापना करना और इनका प्रयोग करना वित्तीय प्रबंध का एक आवश्यक कार्य है। इन तकनीकों में बजटरी नियन्त्रण, लागत नियन्त्रण, अनुपात विश्लेषण आदि सम्मिलित हैं। वित्तीय नियन्त्रण के अन्तर्गत सर्वप्रथम वित्तीय निष्पादन के प्रमाप निर्धारित किए जाते हैं। इसके पश्चात् वास्तविक निष्पादन की इन पूर्व निर्धारित प्रमापों से तुलना की जाती है और विचलन ज्ञात किए जाते हैं। इन विचलनों के कारणों को भी ज्ञात किया जाता है जिससे कि इन विचलनों को दूर करने के लिए कदम उठाए जा सकें।

(xii) **दैनिक प्रकृति के कार्य** (Routine Functions) – वित्तीय कार्यों के कुशल निष्पादन के लिए व्यवसाय के नित्य प्रति के चलन में कुछ दैनिक प्रकृति के कार्य भी करने होते हैं। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं :

(अ) रोकड़ प्राप्ति और भुगतान की देखभाल करना और रोकड़ शेष की सुरक्षा करना।

(ब) बैंक में खाते खोलना तथा इनका प्रबंध करना।

(स) प्रतिभूतियों, बीमा पॉलिसियों और अन्य मूल्यवान प्रलेखों की सुरक्षा करना।

(द) लिखाई रखना और रिपोर्ट तैयार करना।

(य) एक उचित आन्तरिक अंकेक्षण व्यवस्था की स्थापना करना।

वित्तीय प्रबंध के उद्देश्य अथवा लक्ष्य

(Objectives or Goals of Financial Management)

उच्च प्रबंध का यह दायित्व है कि व्यवसाय द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों क निर्धारित करे। बुद्धिमतापूर्ण वित्तीय निर्णय करने के लिए व्यवसाय के उद्देश्यों की स्पष्ट जानका आवश्यक है। उद्देश्य एक रूपरेखा प्रदान करते हैं जिसके अन्तर्गत विनियोग, वित्त व्यवस्था तथा लाभा सम्बन्धी निर्णय लिए जाते हैं। अन्य शब्दों में, उद्देश्य एक ऐसा मापदंड निर्धारित करते हैं जिसके आधार किसी विशेष निर्णय की कुशलता और लाभप्रदता को मापा जाता है। ऐसे मापदन्ड का निर्धारण करने लिए दो विचारधाराएँ हैं लाभ को अधिकतम करना और सम्पदा को अधिकतम करना :

(1) लाभ को अधिकतम करना (Profit Maximization)

(2) सम्पदा को अधिकतम करना (Wealth Maximization)

(1) **लाभ को अधिकतम करना** (Profit Maximization) – इस विचारधारा के अनुसार, ऐस सभी क्रियाएँ करनी चाहिए जिनसे लाभ में वृद्धि होती है और उन सभी क्रियाओं को त्याग देना चाहिए जिन लाभ में कमी होती है। लाभ अधिकतम करने का अर्थ है कि वित्तीय निर्णय केवल एक ही कसौटी प आधारित होने चाहिए और वह कसौटी यह है कि उन सम्पत्तियों, परियोजनाओं और निर्णयों को चुनो ज लाभप्रद हैं और उन्हें त्याग दो जो लाभप्रद नहीं हैं। इस विचारधारा के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते है

(*i*) **कुशलता का माप** (Measurement of Performance) : लाभ एक व्यवसाय की आर्थि कुशलता की कसौटी है। यह एक ऐसा मापदन्ड है जिसके द्वारा किसी व्यवसाय की आर्थि कुशलता का मूल्याँकन किया जा सकता है।

(*ii*) **साधनों का कुशल आबंटन तथा प्रयोग** (Efficient Allocation and Utilisation o Resources) : इस विचारधारा से व्यवसाय के दुर्लभ साधनों का कुशल आबंटन तथा प्रयोग होत है क्योंकि साधनों को कम लाभप्रद परियोजनाओं से अधिक लाभप्रद परियोजनाओं की तरप संचालित किया जाता है।

(*iii*) **अधिकतम सामाजिक कल्याण** (Maximisation of Social Welfare) : लाभप्रदत सामाजिक कल्याण के लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी अति आवश्यक है। लाभ अधिकतम होने सामाजिक कल्याण भी अधिकतम हो जाता है।

(*iv*) **प्रेरणा का स्रोत** (Source of Incentive) : लाभ एक प्रेरणा (Motivator) का कार्य करत है जिसके कारण व्यावसायिक संगठन अधिक कुशलता से कार्य करने को प्रोत्साहित होते हैं। यदि लाभोपार्जन का उद्देश्य समाप्त कर दिया जाए तो प्रगति की गति धीमी पड़ जाएगी।

(*v*) **प्रतिकूल व्यावसायिक परिस्थितियों का सामना करने में सहायक** (Helpful in Facing Adverse Business Conditions) : आर्थिक और व्यावसायिक परिस्थितियों में लगात परिवर्तन आता रहता है। व्यवसाय में प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी आती रहती हैं जैसे कि मन्दी औ भीषण प्रतिस्पर्द्धा इत्यादि। प्रतिकूल परिस्थितियों में केवल वही व्यवसाय जीवित बचता है जिस पिछले समय में कुछ लाभ अर्जित कर रखा हो। अत: एक व्यवसाय को अनुकूल परिस्थितियों के समय अपने लाभों को अधिकतम कर लेना चाहिए।

(*vi*) **फर्म के विकास में सहायक** (Helpful in the Growth of the Firm) : एक फर्म के विकास के लिए लाभ वित्त का एक प्रमुख साधन होते हैं।

अधिकतम लाभ विचारधारा की निम्न कारणों के आधार पर आलोचना की जाती है :

(*i*) **अस्पष्ट** (Ambiguous) – इस विचारधारा की एक व्यावहारिक कठिनाई यह है कि लाभ ए अस्पष्ट और अनिश्चित शब्द है। विभिन्न व्यक्ति इसका अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। उदाहरण के लिए लाभ अल्पकालीन अथवा दीर्घ-कालीन हो सकता है, यह कर घटाने से पूर्व अथवा कर घटाने के बाद का ह सकता है तथा यह कुल लाभ या लाभ की दर हो सकता है। इसी प्रकार, यह कुल विनियोजित पूँजी (Tota apital Employed) अथवा कुल सम्पत्तियों (Total Assets) अथवा अंशधारियों के कोष Shareholder's Funds) आदि पर प्रत्याय के रूप में हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यह भी सम्भव कुल लाभ तो बढ़ जाएँ परन्तु प्रति अंश आय घट जाए। जैसे कि यदि किसी कम्पनी के 1,00,000 अं और यह 10,00,000₹ लाभ अर्जित करती है तो इसकी प्रति अंश आय 10₹ हुई। अब यदि कम्प ,000 नये अंश निर्गमित करती है और 12,00,000₹ का कुल लाभ अर्जित करती है तो कुल लाभ 0,000₹ बढ़ गए हैं परन्तु प्रति अंश आय घटकर 8₹ $\left(\frac{12,00,000\ ₹}{1,50,000}\right)$ रह गई है।

अत: प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फर्म कौन से लाभों को अधिकतम करे ?

(*ii*) **मुद्रा के समय मूल्य की अवहेलना करती है** (Ignores the Time Value of Money)– यह विचारधारा मुद्रा के समय मूल्य को ध्यान में नहीं रखती है अर्थात् यह विभिन्न वर्षों में अर्जित किए गए लाभों में आपस में अन्तर नहीं करती है। यह इस बात को ध्यान में नहीं रखती है कि 1₹ का वर्तमान मूल्य एक वर्ष बाद प्राप्त किए गए 1₹ के मूल्य से अधिक है। इसी प्रकार, प्रथम वर्ष में अर्जित किए गए लाभ का मूल्य उतनी ही राशि के बाद के वर्षों में अर्जित किए गए लाभ से अधिक होगा। उदाहरण के लिए, दो विभिन्न परियोजनाओं के लाभ निम्न हैं :

वर्ष	परियोजना 'अ'	परियोजना 'ब'
	₹	₹
1	1,50,000	—
2	4,50,000	4,00,000
3	2,00,000	4,00,000
कुल	8,00,000	8,00,000

दोनों ही परियोजनाओं के 3 वर्ष के कुल लाभ 8,00,000₹ हैं और यदि लाभों को अधिकतम करने की विचारधारा को अपनाया जाता है तो दोनों ही परियोजनाओं को एक समान लाभप्रद माना जाएगा। परन्तु स्पष्ट देखा जा सकता है कि परियोजना 'अ' प्रारम्भिक वर्षों में अधिक लाभ अर्जित करती है और इसलिए मुद्रा के समय मूल्य के आधार पर अधिक लाभप्रद है। आरम्भिक वर्षों में अर्जित किए गए लाभ को पुन: विनियोजित करके और लाभ कमाया जा सकता है।

(*iii*) **जोखिम तत्त्व की अवहेलना करती है** (Ignores Risk Factor) – यह विचारधारा आय से सम्बद्ध जोखिम तत्त्व को ध्यान में नहीं रखती है। यदि दो फर्मों की कुल सम्भावित आय एक समान हो परन्तु उनमें से एक फर्म की आय में दूसरी की तुलना में काफी उतार-चढ़ाव आते हों तो यह अधिक जोखिम वाली फर्म मानी जाएगी। विनियोक्ता प्राय: अधिक जोखिम वाली अधिक आय की तुलना में कम जोखिम वाली कम आय को अधिक पसन्द करते हैं। परन्तु यह विचारधारा जोखिम तत्त्व की तरफ कोई ध्यान नहीं देती है।

(*iv*) **भविष्य के लाभों की अवहेलना करती है** (Ignores Future Profits) : व्यवसाय को वर्तमान के लाभों को अधिकतम करने के उद्देश्य से ही नहीं चलाया जाता है। कुछ फर्में विक्रय वृद्धि को अधिक महत्त्व प्रदान करती हैं। वह स्थिरता प्राप्त करने के लिए विक्रय बढ़ाने के उद्देश्य से कम लाभों को भी स्वीकार करने को तैयार रहती हैं।

(*v*) **व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों की अवहेलना करती है** (Ignores Social Obligations of Business) : यह विचारधारा विभिन्न सामाजिक समूहों जैसे श्रमिकों, ग्राहकों, समाज, सरकार आदि के प्रति व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों की अवहेलना करती है। कोई भी फर्म सामाजिक समूहों के हितों की अवहेलना करके दीर्घकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती है क्योंकि ये समूह इसके सुगम संचालन में सहयोग देते हैं।

(*vi*) **लाभांश नीति के अंशों के बाजार मूल्य पर प्रभाव को ध्यान में नहीं रखती है** (Neglects the Effect of Dividend Policy on Market Price of the Shares) : इस विचारधारा में फर्म अपने अंशों पर लाभांश देना पसंद नहीं करती है क्योंकि लाभों को व्यवसाय में ही पुनर्विनियोजित करने से प्रति अंश आय को अधिकतम करने का उद्देश्य पूरा हो सकता है।

अत: स्पष्ट है कि अधिकतम लाभ की विचारधारा अपर्याप्त और अनुपयुक्त है। यह विचारधारा न केवल अस्पष्ट ही है परन्तु मुद्रा के समय मूल्य और जोखिम की समस्याओं को भी हल करने में असफल

रहती है। लाभ अधिकतम करने की विचारधारा का विकल्प सम्पदा अधिकतम करने की विचारधारा है जो कि इन समस्याओं को हल करती है।

(2) **सम्पदा को अधिकतम करना** (Wealth Maximization) – वर्तमान समय में वित्तीय निर्णय करने के लिए सम्पदा अधिकतम करने की विचारधारा को व्यापक रूप से मान्यता प्रदान की गई है क्योंकि यह लाभ अधिकतम करने की विचारधारा की सभी सीमाओं को दूर करती है। इसे शुद्ध वर्तमान मूल्य (Net Present Value or NPV) अधिकतम करने की विचारधारा के नाम से भी जाना जाता है। इस विचारधारा के अनुसार किसी सम्पत्ति के मूल्य को उससे प्राप्त लाभों में से उसे क्रय करने की लागत घटाकर मापा जाता है। सम्पत्ति के प्रयोग से प्राप्त लाभों को रोकड़ प्रवाह (Cash flows) के आधार पर मापा जाता है न कि अधिकतम लाभ विचारधारा के अन्तर्गत अपनाए गए लेखांकन लाभों (Accounting Profits) के आधार पर। रोकड़ प्रवाह के रूप में लाभों को मापने से लाभ शब्द के अर्थ की अस्पष्टता (Ambiguity) दूर हो जाती है। इस विचारधारा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह मुद्रा के समय मूल्य (time value of money) का भी ध्यान रखती है। भविष्य में होने वाले रोकड़ प्रवाहों के मूल्य को मापते समय रोकड़ प्रवाहों को एक निश्चित प्रतिशत से घटाकर समय और जोखिम तत्त्वों के लिए प्रावधान किया जाता है। इस प्रतिशत को कटौती दर (Discount Rate) कहते हैं।

भविष्य में सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले रोकड़ प्रवाहों के वर्तमान मूल्य और सम्पत्ति की लागत के अन्तर को शुद्ध वर्तमान मूल्य (Net Present Value or NPV) कहा जाता है। एक ऐसी वित्तीय क्रिया (अथवा ऐसी सम्पत्ति अथवा ऐसी परियोजना) जिसका शुद्ध वर्तमान मूल्य धनात्मक (Positive) है वह अंशधारियों के लिए सम्पदा उत्पन्न करती है और इसलिए इसे स्वीकृत (Accepted) किया जाता है। इसके विपरीत, एक ऐसी वित्तीय क्रिया जिसका शुद्ध वर्तमान मूल्य ऋणात्मक (Negative) है उसे अस्वीकृत (Rejected) किया जाता है क्योंकि इससे अंशधारियों की सम्पदा में कमी आएगी। यदि कई विकल्पों में से किसी एक विकल्प का चयन करना है तो जिसका शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) अधिकतम होता है उसका चयन किया जाता है। अतः इस विचारधारा के अपनाने से अंशधारियों की सम्पदा अधिकतम हो जाएगी। शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) को निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है :

$$W = \frac{A_1}{(1+K)} + \frac{A_2}{(1+K)^2} + \ldots\ldots\ldots\ldots + \frac{A_n}{(1+K)^n} - C$$

Where W = Net Present Worth

$A_1, A_2 \ldots\ldots A_n$ = Stream of cash flows expected to occur from a course of action over a period of time.

K = Appropriate discount rate to measure risk and time factors.

C = Initial outlay to acquire an asset or pursue a course of action.

यदि W अर्थात् NPV धनात्मक है तो फर्म को सम्पत्ति क्रय करनी चाहिए अथवा कोई विशेष क्रिया रनी चाहिए। इसके विपरीत, यदि W ऋणात्मक है तो सम्पत्ति क्रय नहीं करनी चाहिए अथवा वह विशेष क्या नहीं करनी चाहिए। (NPV की अवधारणा को अध्याय 10 में विस्तार से समझाया गया है)।

लाभों को अधिकतम करना *Versus* सम्पदा को अधिकतम करना

(Profit Maximization *Versus* Wealth Maximization)

सम्पदा अधिकतम विचारधारा, लाभ अधिकतम विचारधारा से श्रेष्ठ है। इसके निम्नलिखित कारण हैं:

(1) **यह लेखांकन लाभों के स्थान पर रोकड़ प्रवाहों का प्रयोग करती है** जिससे कि लाभ द के सही-सही अर्थ के विषय में जो अस्पष्टता है वह दूर हो जाती है।

(2) यह भविष्य में प्राप्त होने वाले रोकड़ प्रवाहों को एक उचित कटौती अथवा ब्याज दर से कम करके **मुद्रा के समय मूल्य को उचित महत्त्व प्रदान करती है।** यदि जोखिम अधिक है और समय अवधि अधिक है तो भविष्य में प्राप्त होने वाले रोकड़ लाभों का वर्तमान मूल्य ज्ञात करने के लिए ऊँची कटौती अथवा ब्याज दर का प्रयोग किया जाएगा। जिन परियोजनाओं में कम जोखिम है उनमें कटौती अथवा ब्याज की नीची दर का प्रयोग किया जाएगा।

(3) **यह नियमित लाभांश देने को उचित महत्त्व प्रदान करती है** (It gives due importance to payment of regular dividends) : इस विचारधारा में वित्तीय निर्णय इस प्रकार से लिए जाते हैं जिससे कि अंशधारियों को अधिक मात्रा में लाभांश तथा अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि का श्रेष्ठतम संयोजन प्राप्त हो।

(4) **यह जोखिम तत्त्व को उचित महत्त्व प्रदान करती है तथा जोखिम एवं अनिश्चितता का विश्लेषण करती है** (It gives due importance to risk factor and analyses risk and uncertainty) जिससे कि विभिन्न विकल्पों में से श्रेष्ठतम विकल्प का चुनाव किया जा सके।

(5) यह व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों को उचित महत्त्व प्रदान करती है (It gives due importance to social responsibilities of the business)।

(6) यह फर्म के दीर्घकाल तक जीवित रहने और विकास करने पर ध्यान देती है (It takes into consideration long-run survival and growth of the firm)।

वित्त कार्य का संगठन
(Organisation of Finance Function)

वित्त कार्य के संगठन से तात्पर्य वित्त संबंधी कार्यों के वर्गीकरण करने और वित्तीय कार्यों को करने के लिए एक सुदृढ़ एवं कुशल संगठन की स्थापना करने से है। क्योंकि वित्तीय निर्णय न केवल फर्म के अस्तित्व के लिए बल्कि इसके विकास के लिए भी अति महत्त्वपूर्ण हैं अत: वित्तीय कार्य करने की मूल जिम्मेदारी सर्वोच्च प्रबंध (Top Management) की होती है। अत: वित्तीय कार्य करने के लिए एक अलग विभाग का गठन किया जाता है जो सीधे ही संचालक मन्डल के नियन्त्रण में कार्य करता है। वित्तीय प्रबंधक इस विभाग का अध्यक्ष होता है। वित्तीय नीतियों के संबंध में प्रमुख निर्णय वित्तीय प्रबंधक द्वारा किए जाते हैं जबकि सामान्य वित्तीय मामले निम्न स्तरों को सौंप दिए जाते हैं।

परन्तु वित्तीय कार्य के संगठन की प्रकृति एक फर्म से दूसरे फर्म में भिन्न-भिन्न होती है और यह विभिन्न तत्त्वों पर आधारित होती है जैसे कि फर्म का आकार, इसके व्यवसाय की प्रकृति, वित्तीय क्रियाओं के प्रकार, फर्म के वित्तीय अधिकारियों की योग्यता इत्यादि। एक छोटे आकार के व्यवसाय में वित्त कार्य करने के लिए अलग से किसी वित्तीय अधिकारी की नियुक्ति नहीं की जाती है। व्यवसाय का स्वामी स्वयं ही सभी वित्तीय कार्यों को कर लेता है जैसे व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाना, बजट बनाना, वित्त एकत्र करना, रोकड़ प्रबंध, प्राप्य राशियों का प्रबंध इत्यादि।

एक मध्यम आकार के व्यवसाय में वित्त कार्य करने का दायित्व एक पृथक वित्तीय अधिकारी को सौंपा जाता है जिसे वित्तीय प्रबंधक (Finance Manager) कहा जाता है। वित्तीय विभाग के वित्तीय प्रबंधक के पद का नाम अलग-अलग फर्मों में अलग-अलग होता है। कुछ फर्मों में इसे वित्तीय प्रबंधक कहा जाता है तो अन्यों में वित्त उपाध्यक्ष (Vice President Finance), वित्त संचालक (Director Finance) अथवा वित्त नियन्त्रक (Finance Controller) कहा जाता है। यह सीधे ही सर्वोच्च प्रबंध को रिपोर्ट देता है।

एक बड़े आकार वाली कम्पनी में वित्तीय प्रबंधक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सभी वित्तीय कार्यों को स्वयं करे। अत: वित्त (Finance) तथा वित्तीय नियन्त्रण (Finance Control) को पृथक-पृथक करके दो उप-विभागों में विभाजित कर दिया जाता है। 'वित्त' उप-विभाग का प्रबंध करने के लिए एक कोषाध्यक्ष

(Treasurer) की नियुक्ति की जाती है तथा 'वित्तीय नियन्त्रण' उप-विभाग के प्रबंध के लिए एक वित्तीय नियन्त्रक (Finance Controller) की नियुक्ति की जाती है। यह दोनों ही सीधे वित्तीय प्रबंधक के नियन्त्रण में कार्य करते हैं।

निम्नलिखित चार्ट एक बड़ी व्यावसायिक फर्म के वित्त कार्य के संगठन को प्रदर्शित करता है :

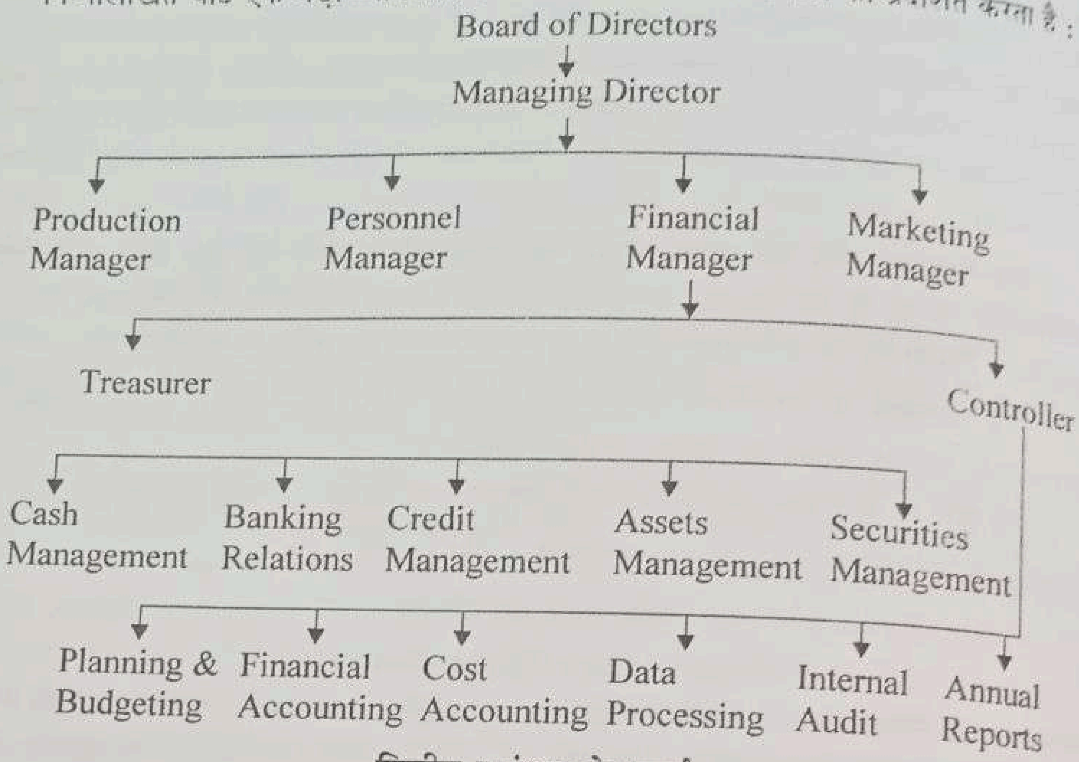
Board of Directors
Managing Director
Production Manager
Personnel Manager
Financial Manager
Marketing Manager
Treasurer
Controller
Cash Management
Banking Relations
Credit Management
Assets Management
Securities Management
Planning & Budgeting
Financial Accounting
Cost Accounting
Data Processing
Internal Audit
Annual Reports

वित्तीय प्रबंधक के कार्य
(Functions of Financial Manager)

वित्तीय प्रबंधक सर्वोच्च प्रबंध का सदस्य होता है। वह वित्तीय नीतियों के निर्धारण तथा वित्तीय निर्णयन से काफी नजदीकी रूप से जुड़ा हुआ होता है। उसे निम्नलिखित कार्य करने होते हैं :

(1) **वित्तीय नियोजन** (Financial Planning) – वित्तीय प्रबंधक व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाता है, पूँजी ढाँचे का निर्धारण करता है और वित्तीय योजना का निर्माण करता है।

(2) **कोषों की व्यवस्था** (Procurement of Funds) – वह विभिन्न स्त्रोतों से कोष उपलब्ध कराने की व्यवस्था करता है जैसे कि अंशों, ऋणपत्रों इत्यादि से।

(3) **समन्वय** (Coordination) – वह विभिन्न विभागों की वित्तीय आवश्यकताओं में उचित समन्वय स्थापित करता है।

(4) **नियन्त्रण** (Control) – वह वित्तीय निष्पादन के मापदन्ड निर्धारित करता है और यह देखता है कि वास्तविक निष्पादन पूर्व निर्धारित प्रमापों के अनुरूप है या नहीं। वह लागत नियन्त्रण, लाभ विश्लेषण और रिपोर्ट तैयार करने के लिए उत्तरदायी है।

(5) **व्यावसायिक पूर्वानुमान** (Business Forecasting) – वह संगठन को प्रभावित करने वाली विभिन्न घटनाओं पर लगातार दृष्टि रखता है जैसे कि तकनीकी परिवर्तन, प्रतिस्पर्द्धा, सरकारी नीति में परिवर्तन, सामाजिक और व्यावसायिक वातावरण में परिवर्तन इत्यादि और इनके फर्म पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करता है।

(6) **अन्य कार्य** (Other Functions) – इन कार्यों में रोकड़ प्रबंध, बैंकिंग संबंध, साख प्रबंध, सम्पत्ति प्रबंध, प्रतिभूतियों का प्रबंध, लेखांकन, आन्तरिक अंकेक्षण इत्यादि सम्मिलित हैं।

कोषाध्यक्ष के कार्य (Functions of Treasurer)

(1) **रोकड़ प्रबंध** (Cash Management) – इस कार्य के अन्तर्गत रोकड़ प्राप्तियों और रोकड़ भुगतानों का प्रबंध करना सम्मिलित है। इसमें विभिन्न स्त्रोतों से वित्त इकट्ठा करना और व्यवसाय के दायित्वों का उचित समय पर भुगतान करना भी सम्मिलित है।

(2) **बैंकिंग संबंध** (Banking Relations) – इसमें बैंकों से संबंध बनाए रखना, बैंक खातों का संचालन करना, जमा और निकाली गई राशियों का प्रबंध शामिल है।

(3) **साख प्रबंध** (Credit Management) – इसमें ग्राहकों की साख क्षमता का निर्धारण करना और उधार विक्रय की वसूली करना सम्मिलित है।

(4) **सम्पत्ति प्रबंध** (Assets Management) – इसमें विभिन्न सम्पत्तियों का क्रय, विक्रय और इनके बीमे की व्यवस्था करना सम्मिलित है।

(5) **प्रतिभूति प्रबंध** (Securities Management) – इसमें व्यवसाय के आधिक्य कोषों का विनियोग सम्मिलित है।

(6) **कोषों तथा प्रतिभूतियों की सुरक्षा** (Protecting Funds and Securities) – इसमें कोषों तथा प्रतिभूतियों की सुरक्षा करना सम्मिलित है।

नियन्त्रक के कार्य (Functions of Controller)

(1) **नियोजन तथा बजटिंग** (Planning and Budgeting) – इसमें लाभ नियोजन, पूँजीगत व्यय नियोजन, बजटिंग, स्टॉक नियन्त्रण, विक्रय पूर्वानुमान इत्यादि सम्मिलित हैं।

(2) **वित्तीय लेखांकन** (Financial Accounting) – वह लेखांकन की एक उचित पद्धति की स्थापना करता है, उस पर नियन्त्रण रखता है और वित्तीय विवरण तैयार करता है जैसे कि लाभ-हानि खाता तथा स्थिति विवरण इत्यादि।

(3) **लागत लेखांकन** (Cost Accounting) – वह एक ऐसी लागत लेखांकन पद्धति की स्थापना करता है जो व्यवसाय के अनुकूल हो और उस पर नियन्त्रण रखता है।

(4) **आँकड़ों से संबंधित प्रक्रिया करना** (Data Processing) – इसमें व्यवसाय से संबंधित आँकड़ों का संग्रहण तथा विश्लेषण सम्मिलित है।

(5) **आन्तरिक अंकेक्षण** (Internal Audit) – वह आन्तरिक अंकेक्षण तथा आन्तरिक नियन्त्रण की व्यवस्था करता है।

(6) **वार्षिक प्रतिवेदन** (Annual Reports) – वह वार्षिक प्रतिवेदन तथा सर्वोच्च प्रबंध के लिए आवश्यक अन्य प्रतिवेदन तैयार करता है।

(7) **सरकार को सूचना** (Information to Government) – वह विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत सरकार को भेजने के लिए विभिन्न रिपोर्टें तैयार करता है।

वित्तीय प्रबंध का महत्त्व

(Importance of Financial Management)

सभी व्यवसायिक संस्थाओं में, चाहे वह बड़ी हों या छोटी, वित्तीय प्रबंध का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान समय में, वित्तीय प्रबंध न केवल कोष एकत्रित करने तक ही सीमित है बल्कि यह संस्था की सफलता के निर्धारण के लिए भी उत्तरदायी है क्योंकि इसके निर्णयों का प्रभाव फर्म के आकार, लाभप्रदता, विकास, जोखिम और जीवित रहने पर पड़ता है। इसके महत्त्व का निम्न प्रकार अध्ययन किया जा सकता है :

(1) **पर्याप्त कोष एकत्रित करने में सहायक** (Helpful in Acquiring Sufficient Funds)– वित्तीय प्रबंध व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाने, अनुकूलतम पूँजी ढाँचा तैयार करने और इसके बाद उपयुक्त साधनों से वित्त एकत्रित करने में सहायक है।

(2) **कोषों का उचित उपयोग** (Proper Utilisation of Funds) – वित्तीय प्रबंध कोषों का इस प्रकार से उपयोग करता है कि इनसे अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके। इनके प्रयोग से प्राप्त लाभों की तुलना इनकी लागतों से की जाती है। इस प्रकार यह कोषों के अनुकूलतम उपयोग को सुनिश्चित करता है।

(3) **रोकड़ का उचित प्रबंध** (Proper Cash Management) – वित्तीय प्रबंध समय-समय पर होने वाली रोकड़ की आवश्यकताओं का निर्धारण करता है और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोकड़ का प्रबंध करता है। रोकड़ की आवश्यकता कच्चा माल क्रय करने के लिए, लेनदारों का भुगतान करने के लिए, मजदूरी बिलों का भुगतान करने के लिए और दिन-प्रतिदिन के व्ययों का भुगतान करने के लिए होती है। वित्तीय प्रबंध यह सुनिश्चित करता है कि न तो रोकड़ की कमी पड़े और न ही यह बेकार पड़ी रहे।

(4) **लाभों का उचित उपयोग** (Proper Use of Profits) – संस्था के विस्तार और विविधिकर के लिए लाभों का विवेकपूर्ण उपयोग अनिवार्य है। यद्यपि लाभों का संस्था में ही पुनर्विनियोग करना वि का सबसे उत्तम स्त्रोत है परन्तु यह अंशधारियों के हितों से मेल नहीं खाता। अंशधारी चाहते हैं कि लाभों एक बड़ा भाग लाभांश के रूप में बाँट दिया जाए। वित्तीय प्रबंध एक उचित लाभांश नीति का निर्माण क है और लाभांश तथा लाभों के पुनर्विनियोग के बीच संतुलन बनाए रखता है।

(5) **सम्पदा को अधिकतम करना** (Maximisation of Wealth) – वित्तीय प्रबंध यह सुनिशि करता है कि विनियोग निर्णय, वित्त संबंधी निर्णय, लाभांश नीति संबंधी निर्णय इस प्रकार लिए जाएँ संस्था की सम्पदा अधिकतम हो जाए। कोई भी वित्तीय क्रिया जो सम्पदा का निर्माण करती है स्वीकृत जाती है और जो सम्पदा का निर्माण नहीं करती अस्वीकृत की जाती है।

(6) **अंशधारियों के लिए उपयोगी** (Useful for Shareholders) – अंशधारी कम्पनी वास्तविक स्वामी होते हैं परन्तु इनकी संख्या अधिक होने के कारण ये संस्था के प्रबंध में प्रत्यक्ष रूप से नहीं ले सकते। अतः कम्पनी का प्रबंध संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। यदि किसी अंशधारी वित्तीय प्रबंध का पर्याप्त ज्ञान है तो वह कम्पनी की लाभप्रदता और वित्तीय स्थिति का विश्लेषण कर है और यह जान सकता है कि कम्पनी का प्रबंध कुशलतापूर्वक किया जा रहा है या नहीं।

(7) **विनियोक्ताओं के लिए उपयोगी** (Useful for Investors) – यदि विनियोक्ता वित्तीय प्रबंध के सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान हो तो वह यह निर्णय ले सकते हैं कि किसी कम्पनी की प्रति का क्रय किया जाए या नहीं। उन्हें दलालों की राय पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं पड़ती।

(8) **बैंकों, वित्तीय संस्थाओं आदि के लिए उपयोगी** (Useful for Banks, Fin Institutions etc.) – वित्तीय प्रबंध के सिद्धान्तों का ज्ञान बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के लिए भी है क्योंकि इससे उन्हें यह निर्णय लेने में सहायता मिलती है कि किसी संस्था को ऋण दिया जाए य इसीलिए इन संस्थाओं में वित्तीय विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है।

वित्तीय प्रबंध एवं प्रबंध के अन्य क्षेत्रों में सम्बन्ध

(Relationship between Financial Management and other Areas of Managemen

प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया के लिए धन की आवश्यकता होती है अतः वित्तीय प्रबंध का प्रबंध सभी क्षेत्रों से अटूट संबंध है जैसे कि उत्पादन प्रबंध, सामग्री प्रबंध, विपणन प्रबंध, मानव संसा आदि। किसी भी फर्म के अधिकांश महत्त्वपूर्ण निर्णय इसके पास कोषों की उपलब्धि के आधा जाते हैं अतः वित्त की समस्या का क्रय, उत्पादन, विपणन आदि की समस्याओं से प्रगाढ़ संबंध बंध एवं प्रबंध के अन्य क्षेत्रों के बीच संबंध को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

(1) **वित्तीय प्रबंध और उत्पादन विभाग** (Financial Management and Production Department) – उत्पादन की लागत कुल लागत का एक काफी बड़ा हिस्सा होती है। उत्पादन प्रबंध को अनेक निर्णय लेने होते हैं जैसे उत्पादन क्षमता में वृद्धि, मशीनरी की पुनः स्थापना करना, लागत में कमी के साधनों की स्थापना करना आदि। यह सभी निर्णय वित्त से संबंधित हैं अतः वित्तीय प्रबंध को उत्पादन प्रबंध के साथ मिलकर इन निर्णयों को लेने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होती है।

(2) **वित्तीय प्रबंध और सामग्री विभाग** (Financial Management and Materials Department) – सामग्री विभाग के क्षेत्र में सामग्री का क्रय, स्टोर करना तथा उत्पादन विभाग को इसकी पूर्ति करना सम्मिलित है। यह विभाग उत्पादन विभाग को सामग्री की नियमित और अबाध पूर्ति के लिए जिम्मेवार होता है। इस उद्देश्य के लिए इन्हें स्टोर में हर समय सामग्री की पर्याप्त मात्रा रखनी होती है। पर्याप्त मात्रा का अर्थ है सामग्री को अनुकूलतम स्तर (Optimum Level) पर रखना अर्थात् न तो अत्यधिक मात्रा में और न ही अपर्याप्त मात्रा में। वित्तीय प्रबंध और सामग्री प्रबंध संयुक्त रूप से अनुकूलतम स्तर निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार वह संयुक्त रूप से ही मितव्ययी आदेश मात्रा (Economic order quantity) एवं सामग्री के रख-रखाव के लिए स्टॉफ तथा स्थान की आवश्यकता का निर्धारण करते हैं।

(3) **वित्तीय प्रबंध और विपणन विभाग** (Financial Management and Marketing Department) – विपणन प्रबंधक अनेक ऐसे निर्णय लेता है जो व्यावसायिक संस्था की लाभप्रदता को प्रभावित करते हैं। सर्वप्रथम, फर्म के उत्पादों का उचित मूल्य निर्धारित करना सबसे महत्त्वपूर्ण है और इसे विपणन प्रबंधक तथा वित्तीय प्रबंधक द्वारा संयुक्त रूप से लिया जाना चाहिए। इस निर्णय को लेने के लिए विपणन प्रबंधक यह सूचना प्रदान कर सकता है कि विभिन्न मूल्य बाजार में फर्म के उत्पादों की माँग पर क्या प्रभाव डालेंगे और वित्तीय प्रबंधक प्रत्येक उत्पाद की लागत, और उत्पादन तथा विक्रय के प्रत्येक स्तर पर लागत में परिवर्तन एवं लाभ सीमा में परिवर्तन के विषय में सूचना प्रदान कर सकता है। अतः वित्तीय प्रबंधक को फर्म के उत्पादों के मूल्य निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होती है। इसी प्रकार वह अन्य निर्णयों के लेने में भी पर्याप्त सहायता प्रदान करता है जैसे उधार व संग्रह नीति, विज्ञापन नीति एवं वितरण नीति के निर्धारण में, फर्म के उत्पादों के स्टॉक के स्तर के निर्धारण में, उत्पाद मिश्रण (Product Mix) तथा विपणन विस्तार आदि के निर्धारण में। वित्तीय प्रबंधक एवं विपणन प्रबंधक आपस में विचार विमर्श के द्वारा उपरोक्त के संबंध में निर्णय लेते हैं।

(4) **वित्तीय प्रबंध तथा मानव संसाधन विभाग** (Financial Management and Human Resource Department) – मानव संसाधन विभाग का संबंध स्टॉफ की भर्ती, प्रशिक्षण एवं कल्याण से है। इस विभाग पर प्रशिक्षण, श्रम शक्ति में बचत, प्रेरणात्मक योजनाएँ, वेतन संरचना में संशोधन आदि से संबंधित योजनाएँ बनाने का दायित्व होता है। यह सभी योजनाएँ वित्त को प्रभावित करती हैं अतः मानव संसाधन प्रबंध को वित्तीय प्रबंधक से विचार विमर्श करके ही यह सभी निर्णय लेने चाहिए। यह सभी निर्णय कर्मचारी कल्याण एवं संस्था का हित दोनों को ध्यान में रखते हुए लिए जाने चाहिए।

अतः स्पष्ट है कि वित्तीय प्रबंध का प्रबंध के अन्य सभी क्षेत्रों से प्रगाढ़ संबंध है।

वित्तीय प्रबंध और वित्तीय लेखांकन

(Financial Management and Financial Accounting)

वित्तीय प्रबन्ध और वित्तीय लेखांकन एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। मुख्य रूप से इनमें निम्नलिखित अन्तर हैं :

(i) **लेखांकन Vs निर्णयन** (Recording Vs Decision Making) – वित्तीय लेखांकन किसी संस्था के मौद्रिक व्यवहारों के लेखांकन से संबंधित है जिससे कि इसके उपयोगकर्ताओं को सूचनाएँ प्रदान की जा सकें। वित्तीय लेखांकन का अंतिम परिणाम वित्तीय विवरण हैं जैसे कि आय विवरण, स्थिति विवरण,

कोष प्रवाह विवरण, नकदी प्रवाह विवरण इत्यादि। इसके विपरीत, वित्तीय प्रबंध अन्तिम रूप से निर्णय लेने से संबंधित है। वित्तीय प्रबंधक वित्तीय लेखांकन द्वारा तैयार किए गए वित्तीय विवरणों को निर्णय लेने के लिए प्रयोग करता है। अतः एक प्रकार से वित्तीय प्रबंध का कार्य वहाँ से प्रारंभ होता है जहाँ वित्तीय लेखांकन का कार्य समाप्त होता है। वित्तीय प्रबंध का मूल उद्देश्य अनुकूलतम लागत पर कोष प्राप्त करना तथा इन कोषों का अनुकूलतम उपयोग करना है।

(ii) **उपार्जन विधि Vs नकदी प्रवाह विधि** (Accrual Method Vs Cash Flow Method) – वित्तीय लेखांकन उपार्जन विधि पर आधारित है जबकि वित्तीय प्रबंध नकदी प्रवाह विधि पर आधारित है। वित्तीय लेखांकन में वित्तीय विवरण उपार्जन आधार पर तैयार किए जाते हैं। उदाहरण के लिए आगम (Revenue) का लेखांकन विक्रय होते ही कर दिया जाता है न कि राशि वसूल होने पर। इसी प्रकार, व्ययों (Expenses) का लेखांकन इनके देय होते ही कर दिया जाता है न कि इनके वास्तविक रूप से भुगतान करने पर। इसके विपरीत, वित्तीय प्रबंध में आगम का लेखांकन इनके वास्तविक रूप से नकदी में प्राप्त होने (अर्थात् रोकड़ प्रवाह होने) पर ही किया जाता है और व्ययों का लेखांकन इनके वास्तविक रूप से भुगतान होने (अर्थात् रोकड़ बहिर्वाह होने) पर ही किया जाता है। इसका कारण यह है कि वित्तीय प्रबंध का संबंध दायित्वों के भुगतान के लिए पर्याप्त रूप से रोकड़ प्रवाह उपलब्ध कराना है जिससे फर्म की सक्षमता (Solvency) बनी रहे। लेखांकन की दृष्टि से एक फर्म काफी लाभप्रद स्थिति में हो सकती है परन्तु हो सकता है कि नकदी की कमी के कारण यह अपने दायित्वों का भुगतान करने में समर्थ न हो। अतः वित्तीय प्रबंध में लेखांकन लाभ की अपेक्षा रोकड़ प्रवाहों को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है।

(iii) **निश्चितता Vs अनिश्चितता** (Certainty Vs Uncertainty) – वित्तीय लेखांकन मुख्य रूप विगत (Past) से संबंधित है। अर्थात इसमें उन घटनाओं और लेन-देनों का लेखा किया जाता है जो कि चुके हैं। अतः तुलनात्मक दृष्टि से यह काफी निश्चित है। इसके विपरीत, वित्तीय प्रबंध मुख्य रूप से विष्य (Future) से संबंधित है। अर्थात पूर्वानुमानों (Estimates) के आधार पर निर्णय लेने से संबंधित। अतः इसमें उच्च मात्रा में अनिश्चितता रहती है।

यद्यपि वित्तीय लेखांकन और वित्तीय प्रबंध एक दूसरे से काफी भिन्न हैं तथापि यह दोनों एक दूसरे के रक (Complimentary) भी हैं। इन दोनों के संबंध को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

(1) वित्तीय लेखांकन द्वारा तैयार किया गया लाभ-हानि खाता व्यावसायिक फर्म द्वारा अर्जित किए गए भ को प्रदर्शित करता है जिसके आधार पर वित्तीय प्रबंध द्वारा **रोकड़ प्रवाह (Cash Flows) निर्धारित ए जाते हैं**। वित्तीय प्रबंध द्वारा इन रोकड़ प्रवाहों का प्रयोग पूँजी बजटन तकनीक द्वारा विनियोग निर्णय ने के लिए किया जाता है।

(2) वित्तीय प्रबंध का एक महत्त्वपूर्ण कार्य **कार्यशील पूँजी** (Working Capital) **का प्रबंध** करना इस उद्देश्य के लिए, वित्तीय प्रबंधक रोकड़ बजट तैयार करता है, स्टॉक का स्तर निर्धारित करता है तथा की साख नीति (Credit Policy) तैयार करता है। इन सभी से संबंधित निर्णय लेने के लिए आवश्यक नाएँ वित्तीय लेखांकन द्वारा ही उपलब्ध कराई जाती हैं।

(3) वित्तीय प्रबंध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य **लाभांश नीति** (Dividend Policy) **का निर्धारण** है। वित्तीय लेखांकन द्वारा उपलब्ध लाभों (अर्थात कर एवं अन्य समायोजनों के पश्चात् लाभ) की के बारे में सूचना प्रदान की जाती है जो कि फर्म की लाभांश नीति के निर्धारण के लिए आवश्यक है।

(4) वित्तीय प्रबंध के लिए अंशधारी सम्पदा को अधिकतम करने के लिए **प्रति अंश आय** ning Per Share or EPS) के विषय में सूचना अति महत्त्वपूर्ण है। प्रति अंश आय की गणना वित्तीय कन द्वारा तैयार किए गए लाभ-हानि खाते द्वारा प्रदर्शित लाभ के आधार पर ही की जाती है।

इस प्रकार, वित्तीय प्रबंध विभिन्न प्रकार के निर्णय लेने के लिए वित्तीय लेखांकन द्वारा प्रदान की गई ओं का उपयोग करता है। इन निर्णयों का स्तर तथा इनकी प्रभावशीलता मुख्य रूप से वित्तीय लेखांकन

10

कार्यशील पूँजी का प्रबंध
(Management of Working Capital)

कार्यशील पूँजी का प्रबंध वित्तीय प्रबंध का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। व्यवसाय में स्थायी सम्पत्तियों और ार्यशील पूँजी के लिए धन की आवश्यकता होती है। स्थायी सम्पत्तियों में भूमि, भवन, संयन्त्र और शीनरी, फर्नीचर और साजसज्जा इत्यादि को शामिल किया जाता है। स्थायी सम्पत्तियाँ व्यवसाय में दीर्घ वधि तक प्रयोग करने के लिए क्रय की जाती हैं और इनसे सम्पत्ति के जीवन काल तक आय प्राप्त होती । इसके विपरीत, कार्यशील पूँजी की आवश्यकता स्थायी सम्पत्तियों के कुशल और प्रभावपूर्ण प्रयोग के ए पड़ती है। कार्यशील पूँजी के प्रबंध का मुख्य उद्देश्य कार्यशील पूँजी की अनुकूलतम मात्रा ptimum amount) निर्धारण करना है।

कार्यशील पूँजी का अर्थ (Meaning of Working Capital) – कार्यशील पूँजी के संबंध में दो धारणाएँ प्रचलित हैं :

(1) सकल कार्यशील पूँजी अवधारणा (Gross Working Capital Concept)

(2) शुद्ध कार्यशील पूँजी अवधारणा (Net Working Capital Concept)

(1) **सकल कार्यशील पूँजी अवधारणा** (Gross Working Capital Concept) – इस धारणा के अनुसार कार्यशील पूँजी से आशय सकल कार्यशील पूँजी से है जिसमें व्यवसाय की सभी चालू त्तियों को शामिल किया जाता है :

Gross Working Capital = Total Current Assets

इस अवधारणा को मानने वाली परिभाषाएँ :

(*i*) **मीड, मैलट तथा फील्ड के अनुसार,** ''कार्यशील पूँजी से आशय चालू सम्पत्तियों के योग से है।''[1]

(*ii*) **बोनविले एवं डेवी के अनुसार,** ''कोषों की कोई भी प्राप्ति जो चालू सम्पत्तियों में वृद्धि करती है उसकी कार्यशील पूँजी में भी वृद्धि करती है, क्योंकि ये दोनों एक ही हैं।''[2]

कार्यशील पूँजी को चालू सम्पत्तियों का योग मानने वाले विद्वान अपनी विचारधारा के पक्ष में निम्न तर्क :

(*i*) जब स्थायी सम्पत्तियों को स्थायी पूँजी का प्रतीक माना जाता है तो चालू सम्पत्तियों को कार्यशील पूँजी का प्रतीक मानना चाहिए।

ii) कोषों की किसी भी प्राप्ति से कार्यशील पूँजी में वृद्धि होती है। इस अवधारणा के अनुसार यह बात सत्य सिद्ध होती है जबकि दूसरी अवधारणा के अनुसार यह बात सत्य सिद्ध नहीं होती।

---

[1] ''Working Capital means total of Current Assets.''—*Mead, Mallott and Field*

[2] ''Any acquisition of funds which increases the Current Assets increases Working Capital, for they are one and the same.'' —*Bonneville and Dewey*

(*iii*) अधिकांश प्रबंधक कुल चल सम्पत्तियों के आधार पर ही अपनी व्यावसायिक क्रिया योजनाएँ बनाते हैं क्योंकि व्यवसाय के प्रतिदिन के कार्य संचालन में यही सम्पत्तियाँ का हैं।

(*iv*) चालू सम्पत्तियों की वित्त व्यवस्था चाहे दीर्घकालीन ऋणों से की गई हो या अल्पकालीन ऋ इनकी उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता, अतः सम्पूर्ण चालू सम्पत्तियों को ही कार्यशी मानना चाहिए।

(2) **शुद्ध कार्यशील पूँजी अवधारणा** (Net Working Capital Concept) – इस अ के अनुसार कार्यशील पूँजी से आशय शुद्ध कार्यशील पूँजी से है जो चालू सम्पत्तियों का चालू दायि आधिक्य होती है।

Net Working Capital = Current Assets – Current Liabilities

इस अवधारणा को मानने वाली परिभाषाएँ :

(*i*) **गेस्टेनबर्ग के अनुसार,** ''इसे (कार्यशील पूँजी) सामान्यतया चालू देनदारियों के ऊ सम्पत्तियों के आधिक्य के रूप में परिभाषित किया जाता है।''[1]

(*ii*) **एल. जे. गिटमैन के अनुसार,** ''कार्यशील पूँजी की सर्वमान्य परिभाषा फर्म क सम्पत्तियों एवं चालू दायित्वों का अन्तर ही है।''[2]

इस विचारधारा को मानने वाले विद्वान अपने पक्ष में निम्न तर्क देते हैं :

(*i*) यह अवधारणा किसी संस्था की तरलता (Liquidity) की स्थिति के बारे में सही जानका है। प्रथम अवधारणा के अनुसार तो अल्पकालीन ऋण लेने से कार्यशील पूँजी बढ़ गई प्रती है जबकि इस अवधारणा के अनुसार अल्पकालीन ऋण से कार्यशील पूँजी अपरिवर्तित रहत उचित भी है। वास्तव में तो कार्यशील पूँजी में तभी वृद्धि होती है जबकि या तो ला पुनर्विनियोग किया जाए अथवा दीर्घकालीन पूँजी प्राप्त की जाए।

(*ii*) चालू सम्पत्तियों का चालू दायित्वों पर आधिक्य इस बात का सूचक है कि संस्था अप दायित्वों का देय होते ही भुगतान कर पाएगी या नहीं। प्रथम अवधारणा से यह बात प लगती।

(*iii*) व्यवसाय के अल्पकालीन ऋणदाता, बैंकर्स इत्यादि इसी अवधारणा के आधार पर अपने ऋ समय पर वापस पाने की सुरक्षा सीमा की गणना करते हैं।

(*iv*) चालू सम्पत्तियों का चालू दायित्वों पर आधिक्य इस बात को निर्धारित करेगा कि संस्था मन का अथवा आकस्मिक आवश्यकताओं का सामना कर पाएगी या नहीं।

(*v*) इस अवधारणा के अनुसार दो ऐसी संस्थाओं की वित्तीय स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन कि सकता है जिनकी चालू सम्पत्तियाँ एक जैसी हों।

जैसा कि अध्ययन किया जा चुका है, शुद्ध कार्यशील पूँजी चालू सम्पत्तियों का चालू दायि आधिक्य होती है। यदि चालू सम्पत्तियाँ चालू दायित्वों के बराबर होती हैं तो शुद्ध कार्यशील पूँजी शू और यदि चालू दायित्व चालू सम्पत्तियों से अधिक हैं तो शुद्ध कार्यशील पूँजी ऋणात्मक होगी।

चालू सम्पत्तियाँ उन सम्पत्तियों को कहा जाता है जो अल्प समय में (जो एक वर्ष से अधिक

---

[1] ''It has ordinarily been defined as the excess of current assets over c liabilities.'' —*C.W. Gesten*

[2] ''The most common definition of net working capital is the differen firm's current assets and current liabilities.'' —*Lawrence. J. G*

ों परिवर्तित हो जाती हैं जैसे कि रोकड़, बैंक शेष, देनदार, प्राप्य विपत्र, स्टॉक, उपार्जित आय,
।

लू दायित्व उन दायित्वों को कहा जाता है जो अल्प समय में (जो एक वर्ष से अधिक न हो) भुगतान ते हैं जैसे लेनदार, देय विपत्र, अदत्त व्यय, अल्पकालीन ऋण इत्यादि।

STRATION 1.

onsider the following balance sheet of a company :

BALANCE SHEET *as at 31st March, 2012*

Particulars	₹
uity & Liabilities	
re Capital	10,00,000
erves and Surplus	50,000
entures	6,00,000
g-term Loans	3,50,000
rt-term Loans	1,00,000
de Payables	2,50,000
standing Expenses	10,000
	23,60,000
ets	
d and Building	10,00,000
nts and Trademarks	1,00,000
t and Machinery	3,00,000
iture and Fixtures	2,00,000
ketable Investments	1,00,000
ntory	2,50,000
le Receivables	3,70,000
rued Income	15,000
and Bank Balance	25,000
	23,60,000

culate the amount of Gross Working Capital and Net Working Capital.

TION :

urrent Assets = Marketable Investments + Inventory + Trade Receivables + Accrued Income + Cash and Bank Balance
= ₹1,00,000 + ₹2,50,000 + ₹3,70,000 + ₹15,000 + ₹25,000
= ₹7,60,000

urrent Liabilities = Short Term Loans + Trade Payables + Outstanding Expenses
= ₹1,00,000 + ₹2,50,000 + ₹10,000
= ₹3,60,000

orking Capital = Total Current Assets
= ₹7,60,000

Net Working Capital = Current Assets – Current Liabilities
= ₹7,60,000 – ₹3,60,000 = ₹4,00,000.

ILLUSTRATION 2.

The Sept Company Ltd. has the following selected assets and liabilities :

	₹
Cash	45,000
Retained Earnings	1,60,000
Equity Share Capital	1,50,000
Trade Receivables	60,000
Inventory	1,11,000
Debentures	1,00,000
Provision for Taxation	57,000
Expenses outstanding	21,000
Land and Building	3,00,000
Goodwill	50,000
Furniture	25,000
Long Term Bank Loans due for payment in the next month	1,20,000
Cash Credit Limit fixed by Bank for next five years	5,00,000
Trade Payables	39,000

You are required to determine :

(*i*) Gross Working Capital (*ii*) Net Working Capital

SOLUTION :

Total Current Assets = Cash + Trade Receivables + Inventory
= ₹45,000 + ₹60,000 + ₹1,11,000 = ₹2,16,000

Total Current Liabilities = Provision for Taxation + Exp. Outstanding + Bank Loan due next month + Trade Payables
= ₹57,000 + ₹21,000 + ₹1,20,000 + ₹39,000
= ₹2,37,000

Gross Working Capital = Total Current Assets
= ₹2,16,000

Net Working Capital = Current Assets – Current Liabilities
= ₹2,16,000 – ₹2,37,000 = (–) ₹21,000

कार्यशील पूँजी के प्रकार

(Types of Working Capital)

कार्यशील पूँजी का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो अवधारणा के आधार पर, तथा दूसरे उसकी आवश्यकता के आधार पर।

(1) **अवधारणा के आधार पर** (On the basis of Concept) – इस आधार पर कार्यशील पूँजी दो प्रकार की हो सकती है :

(*i*) सकल कार्यशील पूँजी (Gross Working Capital)

(*ii*) शुद्ध कार्यशील पूँजी (Net Working Capital)

(2) **आवश्यकता के आधार पर** (On the basis of Need) – इस आधार पर भी कार्यशील पूँजी दो प्रकार की हो सकती है :

(i) स्थायी कार्यशील पूँजी (Permanent Working Capital)
(ii) अस्थायी कार्यशील पूँजी (Temporary Working Capital)

कार्यशील पूँजी की प्रकृति (Nature of Working Capital)

Or

कार्यशील पूँजी की आवश्यकता (Need for Working Capital)

प्रत्येक व्यवसाय में स्थायी पूँजी के साथ-साथ कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी होती है, यद्यपि इसकी आवश्यकता की मात्रा भिन्न-भिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न होती है। कार्यशील पूँजी की आवश्यकता प्रतिदिन की व्यावसायिक गतिविधियों के संचालन के लिए पड़ती है। जब कोई व्यवसाय प्रारम्भ किया जाता है तो कच्चा माल क्रय करने के लिए कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इस कच्चे माल पर कुछ अतिरिक्त व्यय करके इसे निर्मित माल में परिवर्तित किया जाता है। इसके बाद निर्मित माल को विक्रय किया जाता है। परन्तु विक्रय से तुरन्त ही रोकड़ प्राप्त नहीं हो जाती क्योंकि विक्रय की कुछ न कुछ मात्रा उधार विक्रय भी होगी। अत: उधार विक्रय और रोकड़ प्राप्ति के बीच समय का अन्तर पाया जाता है। इस अवधि में व्यावसायिक क्रियाएँ चालू रखने के लिए व्यय करने पड़ते हैं जिसके लिए कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है।

अत: कच्चे माल के क्रय से लेकर रोकड़ की प्राप्ति तक पर्याप्त मात्रा में कार्यशील पूँजी की ावश्यकता होती है। कच्चे माल के क्रय और फिर इसके निर्मित माल और रोकड़ में परिवर्तन होने तक की मयावधि को संचालन चक्र (Operating Cycle) या रोकड़ चक्र (Cash Cycle) कहा जाता है। ार्यशील पूँजी की आवश्यकता को एक संचालन चक्र के माध्यम से समझाया जा सकता है। एक निर्माणी स्था के संचालन चक्र में पाँच अवस्थाओं को शामिल किया जाता है :

(i) रोकड़ को कच्चे माल में परिवर्तन करना
(ii) कच्चे माल को अर्द्ध निर्मित माल में परिवर्तन करना
(iii) अर्द्ध निर्मित माल को निर्मित माल में परिवर्तन करना
(iv) निर्मित माल को उधार विक्रय द्वारा देनदारों में परिवर्तन करना
(v) देनदारों से रोकड़ प्राप्त करके इन्हें रोकड़ में परिवर्तन करना

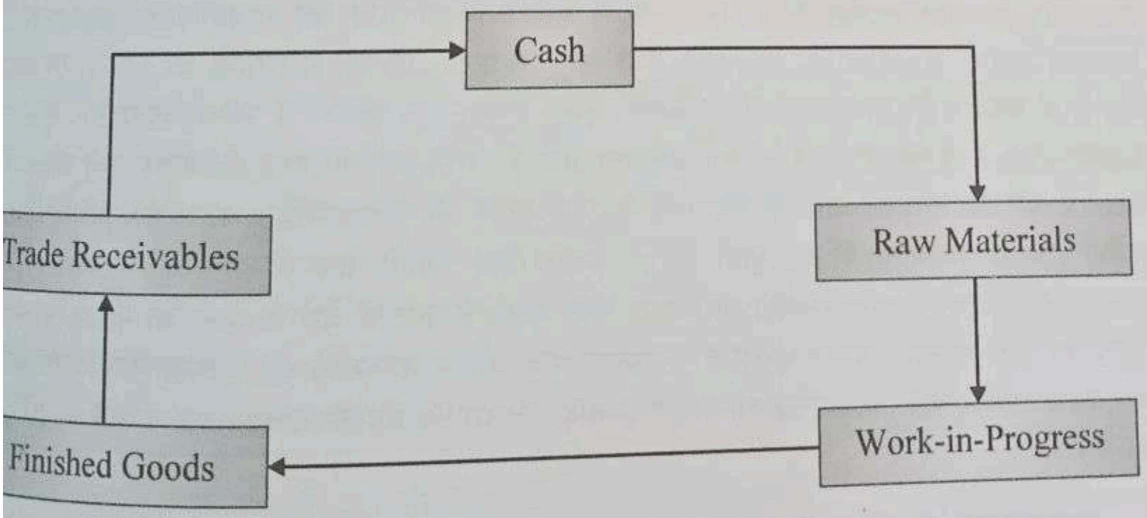

चित्र : संचालन चक्र (कार्यशील पूँजी की प्रकृति)

इस प्रकार संचालन चक्र नकद राशि से प्रारम्भ होकर नकद राशि में ही समाप्त होता है और फिर पुन: आरम्भ हो जाता है। कार्यशील पूँजी की मात्रा संचालन चक्र की अवधि पर निर्भर करती है। संचालन चक्र की अवधि जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। एक निर्माणी कार्य में लगी संस्था में संचालन चक्र की अवधि व्यापारिक संस्था की तुलना में अधिक होगी क्योंकि व्यापारिक संस्थाओं में रोकड़ सीधे ही निर्मित माल में परिवर्तित हो जाती है।

संचालन चक्र में लगने वाले समय के कारण ही संस्थाओं को चालू सम्पत्तियों के रूप में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। संस्थाओं को कच्चे माल की नियमित उपलब्धता के जोखिम से बचने के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल का स्टॉक रखना पड़ता है। इसी प्रकार, बाजार में माँग की नियमित पूर्ति के लिए और स्टॉक समाप्त होने से बचने के लिए पर्याप्त मात्रा में निर्मित माल का स्टॉक रखना पड़ता है। प्रतियोगिता के कारण निर्मित माल का उधार विक्रय भी करना पड़ता है जिससे कि काफी रुपया देनदारों और प्राप्य विपत्रों के रूप में फँस जाता है। इन सबके अतिरिक्त, निर्माणी व्ययों इत्यादि का भुगतान करने के लिए और आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए भी पर्याप्त रोकड़ आवश्यक रूप से रखनी होती है।

कार्यशील पूँजी के प्रकार
(Types of Working Capital)

व्यवसाय में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता संचालन चक्र के कारण होती है। परन्तु संचालन चक्र के पूरा होने पर भी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। क्योंकि संचालन चक्र निरन्तर रूप से चलता रहता है अत: कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी निरन्तर रूप से रहती है। परन्तु कार्यशील पूँजी की आवश्यकता सारे वर्ष एक समान नहीं रहती वरन् घटती-बढ़ती रहती है। इस अवधारणा के अनुसार, कार्यशील पूँजी को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(अ) **स्थायी कार्यशील पूँजी** (Permanent Working Capital) – कार्यशील पूँजी अथवा चालू सम्पत्तियों की आवश्यकता समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती है परन्तु व्यवसाय के दैनिक कार्य को निर्बाध रूप से चलते रहने के लिए कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित माल, निर्मित माल तथा नकद राशि की एक न्यूनतम मात्रा व्यवसाय में हर समय रखी जानी आवश्यक होती है। चालू सम्पत्तियों को इस न्यूनतम मात्रा तक बनाए रखने के लिए जितनी राशि की आवश्यकता होती है उसे स्थायी या नियमित कार्यशील पूँजी कहा जाता है। स्थायी कार्यशील पूँजी में लगी हुई राशि की व्यवस्था वित्त के दीर्घकालीन स्रोतों से ही की जाती है जैसे अंश पूँजी, ऋणपत्र, दीर्घकालीन ऋण इत्यादि।

(ब) **अस्थायी अथवा परिवर्तनशील कार्यशील पूँजी** (Temporary or Variable Working Capital) – स्थायी कार्यशील पूँजी की सीमा से अधिक जितनी राशि की आवश्यकता पड़ती रहती है उसे अस्थायी अथवा परिवर्तनशील कार्यशील पूँजी कहा जाता है। मौसमी परिवर्तनों के कारण वर्ष के कुछ हीनों में व्यापार की मात्रा सामान्य से अधिक होती है अत: इन महीनों में स्थायी कार्यशील पूँजी से भी धिक मात्रा में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि तेजी काल में माँग ढ़ती है और इस बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए स्टॉक भी अधिक रखना पड़ता है। अधिक विक्रय के रण देनदारों की मात्रा भी बढ़ जाती है। इन सबके लिए जितनी मात्रा में अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की वश्यकता पड़ती है उसे अस्थायी कार्यशील पूँजी कहते हैं क्योंकि जैसे ही तेजी का मौसम समाप्त होगा तिरिक्त माँग भी नहीं रहेगी। अस्थायी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता को अल्पकालीन वित्तीय स्रोतों से करना चाहिए जैसे कि अल्पकालीन ऋण इत्यादि, जिससे कि इसकी आवश्यकता न रहने पर इसे लौटाया सके।

व्यवसाय को सुचारु रूप से चलाने के लिए स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार की कार्यशील पूँजी की श्यकता होती है। इन दोनों में अन्तर को निम्न चित्र से स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है :

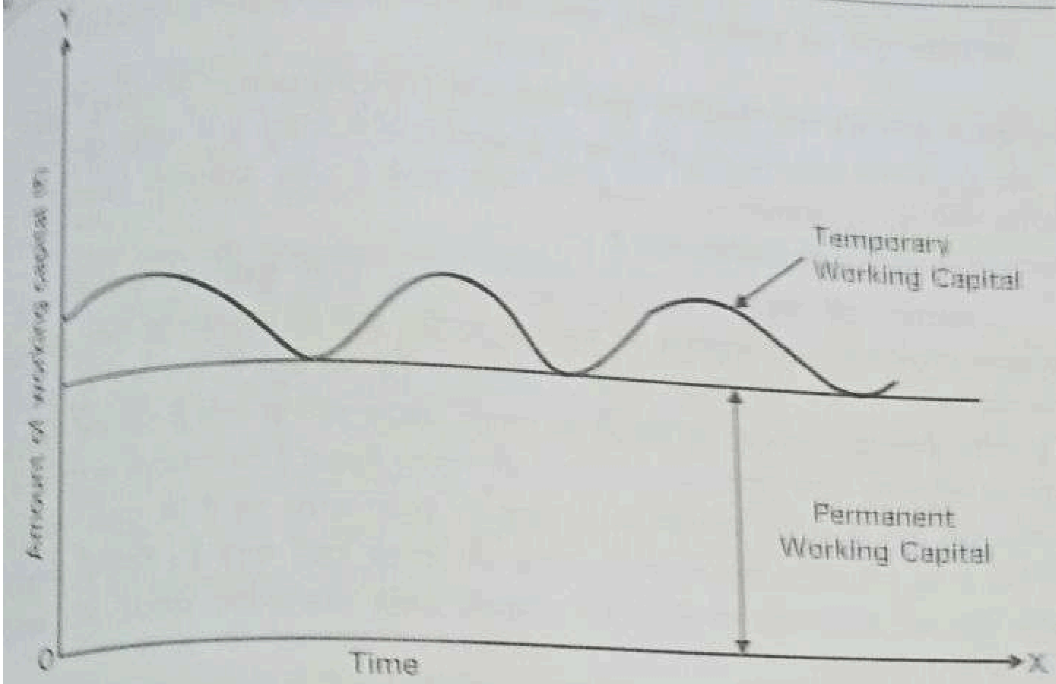

Diagram : Showing Permanent and Temporary Working Capital

उपरोक्त चित्र दर्शाता है कि स्थायी कार्यशील पूँजी की मात्रा वर्ष भर एक समान रहती है जबकि यी कार्यशील पूँजी की मात्रा मौसमी माँग के साथ घटती बढ़ती रहती है।

परन्तु एक विकासशील संस्था (expanding concern) की दशा में स्थायी कार्यशील पूँजी की श्यकता एक जैसी नहीं रहती बल्कि बढ़ती जाती है। अतः स्थायी कार्यशील पूँजी रेखा का समतल izontal) होना जरूरी नहीं है बल्कि यह भी बढ़ती जाएगी जैसा कि निम्न चित्र में दिखाया गया है :

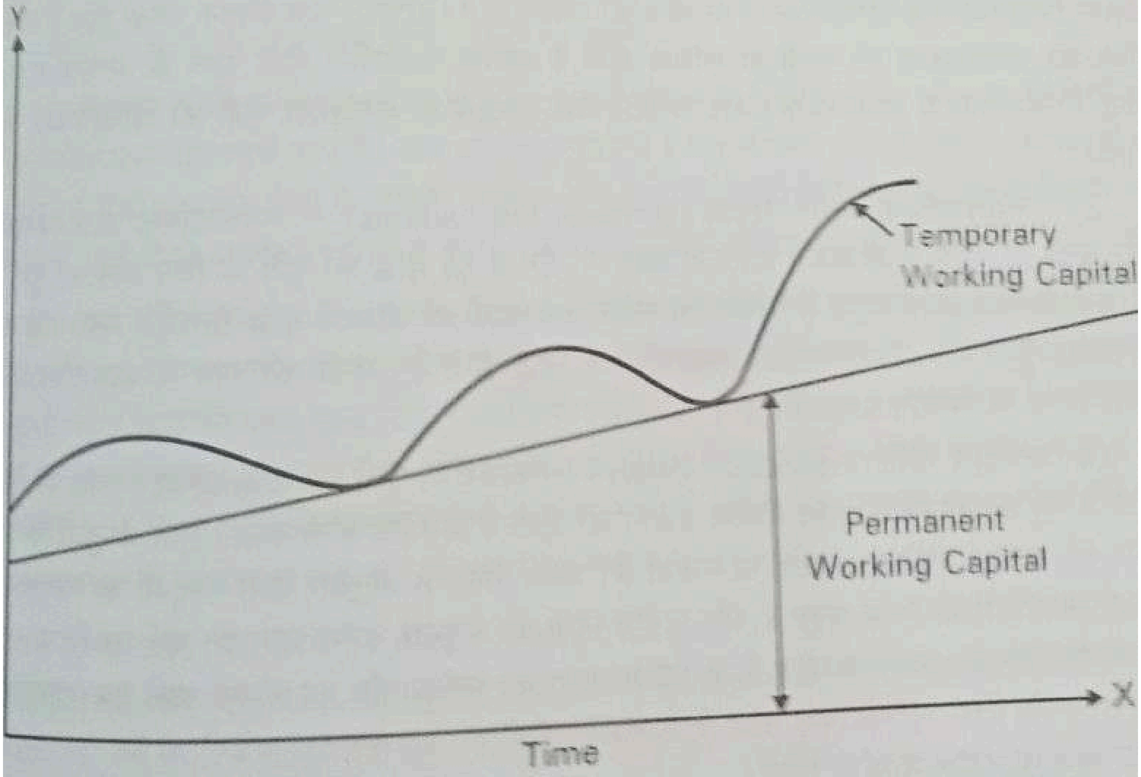

ram : Showing Permanent and Temporary Working Capital in a Growing Conc

कार्यशील पूँजी को प्रभावित करने वाले तत्त्व (Factors affecting Working Capital)

अथवा

कार्यशील पूँजी की मात्रा निर्धारित करने वाले तत्त्व (Determinants of Working Capital)

एक फर्म के पास कार्यशील पूँजी की मात्रा न तो आवश्यकता से अधिक होनी चाहिए और न ही कम। कार्यशील पूँजी की आवश्यकता अनेक तत्त्वों पर निर्भर करती है परन्तु सामान्यतः निम्नलिखित तत्त्व कार्यशील पूँजी की मात्रा को प्रभावित करते हैं :

(1) **व्यवसाय की प्रकृति** (Nature of Business) – किसी संस्था की कार्यशील पूँजी की आवश्यकता अधिकांशतः इसके व्यवसाय की प्रकृति से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए, लोकोपयोगी सेवाओं जैसे रेलवे, परिवहन, जल, विद्युत इत्यादि में कार्यशील पूँजी की बहुत ही कम मात्रा में आवश्यकता होती है क्योंकि इनके द्वारा प्रदान की गई सेवाओं का भुगतान तत्काल प्राप्त हो जाता है और इन्हें काफी मात्रा में स्टॉक भी नहीं रखना पड़ता। दूसरी ओर व्यापारिक और वित्तीय संस्थाएँ हैं जिन्हें स्थायी सम्पत्तियों में कम परन्तु कार्यशील पूँजी में अधिक विनियोग करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि इनके व्यवसाय की प्रकृति ऐसी है कि इन्हें पर्याप्त मात्रा में नकदी, स्टॉक और देनदार रखने पड़ते हैं। निर्माणी संस्थाओं में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता इन दोनों चरम सीमाओं अर्थात् लोकोपयोगी सेवाओं और व्यापारिक संस्थाओं के बीच में रहती है।

(2) **व्यवसाय का आकार** (Size of Business) – किसी व्यावसायिक संस्था का आकार जितना ज्यादा बड़ा होगा उतनी ही उसकी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी अधिक होगी। किसी व्यवसाय के आकार को उसकी व्यावसायिक क्रियाओं के आकार के आधार पर मापा जा सकता है।

(3) **विकास एवं विस्तार** (Growth and Expansion) – जैसे-जैसे किसी व्यावसायिक संस्था के आकार में वृद्धि होती है वैसे-वैसे उसकी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता में वृद्धि होना भी स्वाभाविक ही है। विकासशील उद्योगों में स्थिर उद्योगों की अपेक्षा अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है।

(4) **उत्पादन चक्र** (Production Cycle) – उत्पादन चक्र से आशय कच्चा माल क्रय करने तथा उसको निर्मित माल में परिवर्तन करने के बीच की अवधि से है। उत्पादन चक्र जितना लम्बा होता है कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी उतनी ही अधिक होती है क्योंकि कार्यशील पूँजी उतने ही अधिक समय तक अर्द्ध-निर्मित माल में फँसी रहेगी। यदि उत्पादन चक्र छोटा है तो कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी कम होगी।

(5) **व्यावसायिक उतार-चढ़ाव** (Business Fluctuations) – व्यावसायिक उतार-चढ़ाव तेजी और मन्दी की दिशा में हो सकते हैं। तेजी काल में माँग में हुई वृद्धि की पूर्ति के लिए फर्म को पूर्ण क्षमता के अनुसार कार्य करना पड़ता है जिससे कि स्टॉक व देनदारों की सीमा में वृद्धि होती है। अतः तेजी काल में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता में अवश्यम्भावी वृद्धि होती है। मन्दी की दशा में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(6) **उत्पादन नीति** (Production Policy) – कार्यशील पूँजी की मात्रा उत्पादन नीति पर भी निर्भर करती है। कुछ वस्तुओं की माँग मौसमी प्रकृति की होती है जैसे कि ऊनी वस्त्र। ऐसी वस्तुओं के लिए दो प्रकार की उत्पादन नीतियाँ अपनाई जा सकती हैं। प्रथम नीति के अनुसार ऐसी वस्तुओं का उत्पादन इनकी माँग के महीनों में ही किया जाता है और द्वितीय नीति के अनुसार इनका उत्पादन वर्ष भर किया जाता है। यदि द्वितीय विकल्प अपनाया जाता है तो निर्मित माल का स्टॉक माँग का मौसम आने तक लगातार बढ़ता जाएगा जिसके लिए अधिकाधिक मात्रा में कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी जो कि कुछ महीनों तक निर्मित माल के स्टॉक में फँसी रहेगी।

(7) **विक्रय के संबंध में साख नीति** (Credit policy relating to Sales) – यदि कोई फर्म विक्रय की उदार साख नीति अपनाती है तो देनदारों में फँसी हुई राशि भी अधिक होगी। अधिक देनदारों का

है अधिक कार्यशील पूँजी। इसके विपरीत, यदि कोई फर्म विक्रय की कठोर साख नीति अपनाती है तो शील पूँजी की मात्रा भी कम होगी।

(8) **क्रय के सम्बन्ध में साख नीति** (Credit policy relating to Purchase) — यदि कोई फर्म क मात्रा में उधार क्रय करती है तो इसे कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। अर्थात् यदि किसी को माल पूर्ति करने वाले लेनदारों से उदार शर्तों पर उधार माल मिल जाता है तो इसे कम कार्यशील पूँजी आवश्यकता होगी अन्यथा अधिक।

(9) **कच्चे माल की उपलब्धता** (Availability of Raw Materials) — यदि कच्चा माल इस र का है कि इसे आसानी से और नियमित रूप से प्राप्त किया जा सकता है तो ऐसे माल को अधिक मात्रा स्टॉक में रखने की आवश्यकता नहीं होगी जिससे कि कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी कम होगी। के विपरीत, यदि कच्चे माल की पूर्ति अनियमित है तो फर्म को ऐसे माल का काफी बड़ा स्टॉक रखना गा जिसके लिए अधिक मात्रा में कार्यशील पूँजी की जरूरत पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, कुछ कच्चे माल विशेष मौसम में ही उपलब्ध होते हैं जैसे कि तेलों के बीज, कपास इत्यादि। इन्हें उसी मौसम में खरीदकर अवधि के लिए भी स्टॉक में रखना होगा जब ये कम मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जिसके लिए अधिक र्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी।

(10) **बैंक साख की उपलब्धता** (Availability of Credit from Banks) — यदि कोई फर्म वश्यकता के समय आसानी से बैंक से वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती है तो ऐसी फर्म कम कार्यशील जी से व्यवसाय कर सकती है। इसके विपरीत, यदि इसे ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं है तो इसे अधिक र्यशील पूँजी रखनी होगी।

(11) **लाभ की मात्रा** (Volume of Profit) — शुद्ध लाभ का वह भाग जो नकद रूप में अर्जित या जाता है कार्यशील पूँजी का स्रोत होता है। अधिक शुद्ध लाभ अधिक मात्रा में आन्तरिक रूप से कोष लब्ध कराते हैं जिससे कार्यशील पूँजी की पूर्ति में सहायता मिलती है।

(12) **करों का स्तर** (Level of Taxes) — नकद लाभों का पूरा भाग कार्यशील पूँजी के लिए लब्ध नहीं होता है। लाभ में से करों का भुगतान करना होता है। करों की राशि जितनी अधिक होगी, र्यशील पूँजी के लिए उपलब्ध लाभ उतने ही कम रह जाएँगे।

(13) **लाभांश नीति** (Dividend Policy) — किसी संस्था में कार्यशील पूँजी की मात्रा के निर्धारण लाभांश नीति एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। लाभांश के भुगतान से रोकड़ में कमी आती है जिससे कि उस सीमा क कार्यशील पूँजी प्रभावित होती है। इसके विपरीत, यदि कम्पनी लाभांश का भुगतान न करके लाभों को चित करती रहती है तो कार्यशील पूँजी में लाभों का योगदान उतना ही अधिक होगा।

(14) **ह्रास नीति** (Depreciation Policy) — यद्यपि ह्रास से रोकड़ का बहिर्वाह (Outflow) नहीं ता, फिर भी यह अप्रत्यक्ष रूप से कार्यशील पूँजी को प्रभावित करता है। प्रथम तो, क्योंकि शुद्ध लाभ की णना करते समय ह्रास को व्यय माना जाता है इसलिए इससे करों की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। यदि ह्रास ँची दर से लगाया जाता है तो इससे लाभ कम रह जाते हैं जिससे कि करों का दायित्व भी कम हो जाता है। सरे, ऊँची दर से ह्रास लगाने से विभाज्य लाभ कम रह जाते हैं जिससे कि लाभांश का भुगतान भी कम गा। परिणामस्वरूप रोकड़ का बहिर्वाह भी उस सीमा तक कम रह जाएगा।

(15) **मूल्य स्तर में परिवर्तन** (Price Level Changes) — मूल्य स्तर में परिवर्तन का प्रभाव र्यशील पूँजी की आवश्यकता पर भी पड़ता है। यदि मूल्य स्तर बढ़ रहा है तो उत्पादन को वर्तमान स्तर पर नाए रखने के लिए अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी।

(16) **प्रबंध की कार्यकुशलता** (Efficiency of Management) — प्रबंध की कार्यकुशलता भी र्यशील पूँजी के स्तर को निर्धारण करने में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। साधनों का कुशल प्रयोग करके प्रबंध

कार्यशील पूँजी की आवश्यकता को कम कर सकता है। कुशल प्रबंध रोकड़ चक्र की गति को बढ़ा सकता है और कार्यशील पूँजी की उसी राशि को बार-बार शीघ्रता से प्रयोग कर सकता है।

पर्याप्त कार्यशील पूँजी के लाभ (Advantages of adequate working capital)

(*i*) **कच्चे माल की नियमित उपलब्धता** (Availability of Raw Materials Regularly) – पर्याप्त कार्यशील पूँजी होने से, फर्म के लिए कच्चा माल पूर्ति करने वालों को समय पर भुगतान करना सम्भव हो जाता है। परिणामस्वरूप इसे पूर्तिकर्ताओं से नियमित रूप से कच्चा माल मिलता रहता है जिससे उत्पादन प्रक्रिया में कोई रुकावट नहीं आती।

(*ii*) **स्थायी सम्पत्तियों का पूर्ण प्रयोग** (Full utilisation of Fixed Assets) – पर्याप्त कार्यशील पूँजी फर्म की सम्पत्तियों के पूर्ण और निरन्तर प्रयोग को सम्भव बनाती है। उदाहरण के लिए यदि कच्चे माल का पर्याप्त स्टॉक नहीं हो तो मशीनों का पूरा प्रयोग नहीं हो पाएगा और इनकी उत्पादकता कम हो जाएगी।

(*iii*) **नकद छूट** (Cash Discount) – एक ऐसी फर्म जिसके पास पर्याप्त कार्यशील पूँजी है माल का नकद क्रय करके अथवा देय तिथि से पहले भुगतान करके नकद छूट प्राप्त कर सकती है।

(*iv*) **साख क्षमता में वृद्धि** (Increase in Credit Rating) – अल्पकालीन दायित्वों को समय पर भुगतान करने से फर्म की साख क्षमता सुदृढ़ हो जाती है जिससे फर्म को अनुकूल शर्तों पर उधार माल क्रय करने में सुविधा रहती है और बैंकों इत्यादि में भी संस्था की साख बनी रहती है। इससे आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त करने में सुविधा रहती है।

(*v*) **अनुकूल व्यावसायिक अवसरों का लाभ** (Advantage of favourable Busines Opportunities) – यदि कच्चे माल के मूल्यों में वृद्धि की सम्भावना लगती है और यदि फर्म के पास पर्याप्त कार्यशील पूँजी है तो वह इसकी काफी मात्रा खरीद कर रख सकती है। इसी प्रकार, यदि फर्म को माल पूर्ति करने का कोई बहुत बड़ा आर्डर प्राप्त हो जाता है तो पर्याप्त कार्यशील पूँजी होने पर वह इस अवसर का लाभ उठा सकती है।

(*vi*) **लाभांश के वितरण में सुविधा** (Facilitates the distribution of Dividends) – कभी- कभी पर्याप्त लाभ होने पर भी, प्रबंध रोकड़ की कमी के कारण अंशधारियों को उचित दर से लाभांश देने में कठिनाई अनुभव करता है। पर्याप्त कार्यशील पूँजी होने से लाभांश वितरण में सुविधा रहती है।

(*vii*) **बैंकों से ऋण प्राप्ति में सुविधा** (Facility in Obtaining Bank Loans) – जिन फर्मों के पास पर्याप्त कार्यशील पूँजी है उन्हें बैंक असुरक्षित ऋण देने में भी संकोच नहीं करते, क्योंकि चालू सम्पत्तियों का चालू दायित्वों पर आधिक्य स्वयं एक उत्तम प्रतिभूति मानी जाती है।

(*viii*) **प्रबन्ध की कार्यकुशलता में वृद्धि** (Increase in Efficiency of Management) – पर्याप्त कार्यशील पूँजी का प्रबंधकों पर अनुकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि व्यवसाय के दिन प्रतिदिन के कार्यों में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। लेनदारों, मजदूरी और अन्य व्ययों का समय पर भुगतान किया जाता है जिससे कि प्रबंधकों का मनोबल ऊँचा रहता है।

(*ix*) **आकस्मिकताओं का सामना** (Meeting Unseen Contingencies) – पर्याप्त कार्यशील पूँजी होने से कम्पनी आकस्मिक संकटों का सफलतापूर्वक सामना कर सकती है।

अत्यधिक और अपर्याप्त कार्यशील पूँजी

(Excessive and Inadequate Working Capital)

प्रत्येक व्यावसायिक संस्था को अपनी व्यावसायिक क्रियाओं की जरूरतों के अनुरूप पर्याप्त कार्यशील पूँजी बनाए रखनी चाहिए। कार्यशील पूँजी की मात्रा न तो अत्यधिक होनी चाहिए और न ही अपर्याप्त। यदि

कार्यशील पूँजी आवश्यकता से अधिक होगी तो यह बेकार पड़ी रहेगी जिससे पूँजी की लागत बढ़ेगी और यह पूँजी व्यवसाय के लिए कोई लाभ अर्जित नहीं करेगी। इसके विपरीत, यदि कार्यशील पूँजी की मात्रा व्यवसाय की आवश्यकताओं से कम है तो इससे उत्पादन में बाधा पड़ेगी और विक्रय की मात्रा में कमी आएगी जिससे कि व्यवसाय की लाभप्रदता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

अत्यधिक कार्यशील पूँजी की हानियाँ (Disadvantages of excessive working capital)

(*i*) **अत्यधिक स्टॉक** (Excessive Inventory) – अत्यधिक कार्यशील पूँजी होने से स्टॉक की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाती है। इससे स्टॉक के दुरुपयोग, बर्बादी, चोरी आदि के अवसर बढ़ जाते हैं।

(*ii*) **अत्यधिक देनदार** (Excessive Debtors) – अत्यधिक कार्यशील पूँजी का परिणाम होता है उदार साख नीति, जिससे देनदारों में अधिक राशि फँसी रहती है और डूबत ऋणों में वृद्धि होती है।

(*iii*) **लाभप्रदता पर प्रतिकूल प्रभाव** (Adverse effect on Profitability) – अत्यधिक कार्यशील पूँजी का अर्थ है व्यवसाय में बेकार पड़े हुए कोष, जिससे पूँजी की लागत तो बढ़ती है परन्तु यह पूँजी व्यवसाय के लिए कोई लाभ अर्जित नहीं करती। अत: इसका फर्म की लाभप्रदता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(*iv*) **प्रबंध की अकुशलता** (Inefficiency of Management) – प्रबंधकों के पास अत्यधिक साधन होने से वह लापरवाह हो जाते हैं। इससे व्ययों और नकद साधनों पर नियन्त्रण नहीं रहता।

अपर्याप्त कार्यशील पूँजी की हानियाँ (Disadvantages of inadequate working capital)

(*i*) **कच्चे माल की उपलब्धता में कठिनाई** (Difficulty in availability of Raw-Material)– कार्यशील पूँजी की अपर्याप्तता के कारण लेनदारों को समय पर भुगतान नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप, अनुकूल शर्तों पर उधार माल का क्रय कठिन होता जाता है। इसके अतिरिक्त, फर्म नकद छूट भी प्राप्त नहीं कर पाती।

(*ii*) **स्थायी सम्पत्तियों का पूर्ण प्रयोग सम्भव नहीं** (Full utilisation of Fixed Assets not Possible) – कच्चे माल की पूर्ति में बार-बार बाधा आने और अपर्याप्त स्टॉक होने के कारण फर्म अपनी मशीनों आदि का पूर्ण प्रयोग नहीं कर पाती।

(*iii*) **मशीनों के रख-रखाव में कठिनाई** (Difficulty in the maintenance of Machinery)– पर्याप्त कार्यशील पूँजी के अभाव में मशीनों की उचित देखभाल और मरम्मत नहीं हो पाती जिससे अनेक बार काम बन्द हो जाता है।

(*iv*) **साख क्षमता में कमी** (Decrease in Credit Rating) – कार्यशील पूँजी की कमी के कारण फर्म अपने अल्पकालीन दायित्वों का समय पर भुगतान नहीं कर पाती है। इससे फर्म के बैंक के साथ संबंध खराब हो जाते हैं और जरूरत के समय भी उधार मिलना कठिन हो जाता है।

(*v*) **अनुकूल अवसरों का सदुपयोग न होना** (Non utilisation of Favourable Opportunities) – जैसे कि कच्चे माल की कीमत अचानक कम हो जाने पर भी फर्म इसकी पर्याप्त मात्रा हीं खरीद पाएगी। इसी प्रकार, यदि फर्म को कोई बड़ा आर्डर प्राप्त हो जाता है तो कार्यशील पूँजी की कमी के कारण वह इसकी पूर्ति नहीं कर पाएगी।

(*vi*) **विक्रय में क़मी** (Decrease in Sales) – कार्यशील पूँजी की कमी के कारण फर्म पर्याप्त त्रा में तैयार माल का स्टॉक नहीं रख पाएगी, जिससे विक्रय में कमी आएगी। इसके अतिरिक्त, फर्म को ार विक्रय में भी कमी करनी पड़ेगी जिसके कारण विक्रय में और अधिक कमी आएगी।

(*vii*) **लाभांश वितरण में कठिनाई** (Difficulty in the distribution of Dividends) – नकद साधनों की कमी के कारण फर्म अपने अंशधारियों को लाभांश चुकाने में असमर्थ रहेगी।

(*viii*) **प्रबंध की कार्यकुशलता में कमी** (Decrease in the Efficiency of Management)– प्रबंध के लिए अपने लेनदारों को समय पर भुगतान करना और दिन-प्रति दिन के खर्चों का भुगतान करना कठिन हो जाता है। मजदूरी का भी नियमित रूप से भुगतान करना कठिन हो जाता है। जिससे प्रबंधकों के मनोबल पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

अत: एक कुशल प्रबंध को अपने व्यवसाय में नियमित रूप से पर्याप्त कार्यशील पूँजी की मात्रा बनाए रखनी चाहिए।

कार्यशील पूँजी का प्रबंध

(Management of Working Capital)

कार्यशील पूँजी प्रबन्ध का प्रमुख लक्ष्य चालू सम्पत्तियों और चालू दायित्वों का इस प्रकार से प्रबंध करना है कि कार्यशील पूँजी एक संतोषजनक स्तर पर बनी रहे। चालू सम्पत्तियाँ इतनी अवश्य होनी चाहिए कि इनसे चालू दायित्वों का भुगतान ठीक समय पर होता रहे परन्तु किसी भी चालू सम्पत्ति का स्तर आवश्यकता से अधिक भी नहीं होना चाहिए। अत: कार्यशील पूँजी प्रबंध का प्रमुख उद्देश्य चालू सम्पत्तियों और चालू दायित्वों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध बनाए रखना है। **के. वी. स्मिथ के अनुसार,** ''कार्यशील पूँजी प्रबंध उन समस्याओं से संबंधित है जो चालू सम्पत्तियों, चालू दायित्वों तथा उनके पारस्परिक संबंध के प्रबंध में उत्पन्न होती हैं।''[1]

कार्यशील पूँजी प्रबंध के प्रमुख उद्देश्य अथवा पहलू निम्नलिखित हैं :

(1) कार्यशील पूँजी में विनियोग की पर्याप्त अथवा अनुकूलतम मात्रा का निर्धारण करना
(2) चालू सम्पत्तियों की रचना अथवा ढाँचा निर्धारित करना
(3) तरलता और लाभप्रदता में एक उचित तालमेल बनाए रखना
(4) चालू सम्पत्तियों के लिए वित्त की नीति या साधन निश्चित करना

(1) **कार्यशील पूँजी में विनियोग की पर्याप्त अथवा अनुकूलतम मात्रा का निर्धारण करना**–जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, एक फर्म को अपनी कार्यशील पूँजी में पर्याप्त अथवा उचित मात्रा में विनियोग बनाए रखना चाहिए। कार्यशील पूँजी में विनियोग न तो अत्यधिक होना चाहिए और न ही अपर्याप्त।

(2) **चालू सम्पत्तियों की रचना अथवा ढाँचा निर्धारित करना** – वित्तीय प्रबंध को चालू सम्पत्तियों की रचना अथवा बनावट भी निर्धारित करनी होती है। उसे यह निर्णय करना चाहिए कि विभिन चालू सम्पत्तियों में कितना-कितना विनियोग करना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए, उसे स्टॉक, देनदारों, विक्रय योग्य प्रतिभूतियों और रोकड़ में औसत रूप से विनियोजित राशि की मात्रा निश्चित करनी चाहिए।

(3) **तरलता और लाभप्रदता में एक उचित तालमेल बनाए रखना** – कार्यशील पूँजी का प्रबंध करते समय प्रबंध को दो विरोधी तत्त्वों में तालमेल बिठाना होगा। यह विरोधी तत्त्व हैं तरलता (Liquidity) और लाभप्रदता (Profitability)। यदि कार्यशील पूँजी की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होगी तो इससे तरलता बढ़ेगी परन्तु लाभप्रदता घटेगी। इसका कारण यह है कि कोषों का एक बड़ा भाग चालू सम्पत्तियों में लगा रहेगा और जिस सीमा तक यह कोष बेकार (Idle) पड़े रहेंगे उस सीमा तक फर्म को लाभों

---

1. ''Working capital management is concerned with the problems that arise in attempting to manage the current assets, current liabilities and the inter relationship that exists between them.''
—*K.V. Smith*

का त्याग करना होगा। इसके विपरीत, यदि कार्यशील पूँजी की मात्रा अपेक्षाकृत कम है तो इससे तरलता तो कम रह जाएगी परन्तु लाभप्रदता बढ़ जाएगी। इसका कारण यह है कि बेकार चालू सम्पत्तियों में फँसे कोषों की मात्रा कम है।

(4) **चालू सम्पत्तियों के लिए वित्त की नीति या साधन निश्चित करना** – कार्यशील पूँजी प्रबन्ध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू वित्तीय मिश्रण (financing mix) निर्धारित करना है अर्थात् चालू सम्पत्तियों के लिए वित्त व्यवस्था किन साधनों से की जाएगी। चालू सम्पत्तियों के लिए वित्त की व्यवस्था मुख्यत: दो साधनों से की जा सकती है :

(अ) **अल्पकालीन स्रोत** – जैसे कि अल्पकालीन बैंक ऋण और अन्य चालू दायित्व जैसे कि लेनदार, देय बिल आदि।

(ब) **दीर्घकालीन स्रोत** – जैसे कि अंश पूँजी, दीर्घकालीन ऋण, संचित आय इत्यादि।

यह निर्णय करना होता है कि चालू सम्पत्तियों के कितने भाग की व्यवस्था अल्पकालीन स्रोतों से की जाएगी और कितने भाग की व्यवस्था दीर्घकालीन स्रोतों से। यह निर्णय करने से वित्तीय मिश्रण (financing mix) निर्धारित होता है। वित्तीय मिश्रण निर्धारित करने के संबंध में तीन दृष्टिकोण हैं :

(1) **मिलान दृष्टिकोण** (Matching Approach) अथवा **हैजिंग दृष्टिकोण** (Hedging Approach) – इस दृष्टिकोण के अनुसार, सम्पत्ति के अनुमानित जीवन काल का उस सम्पत्ति के लिए प्राप्त किए गए वित्त के साधन के अनुमानित जीवन काल से मिलान किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि स्टॉक का विक्रय 30 दिनों में होना है तो इसके लिए 30 दिन का अल्प-कालीन ऋण लिया जा सकता है। अल्पकालीन सम्पत्तियों के लिए दीर्घकालीन साधनों से वित्त की व्यवस्था महँगी सिद्ध होगी क्योंकि इन कोषों का पूर्ण अवधि के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा। दीर्घ-कालीन सम्पत्तियों के लिए अल्प-कालीन साधनों से वित्त की व्यवस्था करना भी जोखिमपूर्ण एवं असुविधाजनक होगा क्योंकि ऐसा करने में अल्प-कालीन ऋणों की व्यवस्था बार-बार करनी होगी और कठोर साख अवधियों में ऐसी व्यवस्था करना कठिन भी होगा।

जब एक फर्म मिलान दृष्टिकोण अपनाती है तो : (*i*) चालू सम्पत्तियों के स्थायी भाग की व्यवस्था तो पूर्ण रूप से दीर्घकालीन साधनों से की जाती है और (*ii*) चालू सम्पत्तियों के अस्थायी अथवा परिवर्तनशील भाग की व्यवस्था अल्प-कालीन साधनों से की जाती है।

मिलान दृष्टिकोण के अन्तर्गत, तरलता (liquidity) बहुत कम रहती है और जोखिम तथा लाभप्रदता risk and profitability) अधिक रहती है।

(2) **रूढ़िवादी दृष्टिकोण** (Conservative Approach) – इस दृष्टिकोण के अनुसार, किसी र्म की सम्पूर्ण वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति दीर्घकालीन साधनों से की जाती है। अल्पकालीन साधनों प्रयोग केवल आकस्मिक आवश्यकताओं के समय ही किया जाता है। जिन अवधियों में फर्म के पास धिक्य कोष होते हैं तो तरलता का प्रयोग करने के लिए बेकार पड़े कोषों को विक्रय योग्य प्रतिभूतियों में नियोजित कर दिया जाता है। रूढ़िवादी दृष्टिकोण में फर्म के पास तरलता (liquidity) अधिक रहती है सके कारण जोखिम (risk) बहुत कम रहता है और बेकार पड़े कोषों के कारण लाभप्रदता ofitability) भी कम रहती है।

(3) **उग्र दृष्टिकोण** (Aggressive Approach) – यह दृष्टिकोण मिलान दृष्टिकोण और रूढ़िवादी टकोण के बीच एक सामंजस्य स्थापित करता है और एक ऐसी वित्तीय योजना पेश करता है जो इन दो रीत दृष्टिकोणों के बीच में पड़ती है। जब एक फर्म उग्र दृष्टिकोण अपनाती है तो दीर्घकालीन कोषों की तो वही रहती है जितनी कि मिलान दृष्टिकोण में परन्तु अल्पकालीन कोषों की राशि मिलान दृष्टिकोण धिक स्तर पर रखी जाती है। अत: इस दृष्टिकोण में मिलान दृष्टिकोण की तुलना में तो तरलता अधिक है परन्तु रूढ़िवादी दृष्टिकोण की तुलना में तरलता कम रहती है। दूसरी ओर, मिलान दृष्टिकोण की में तो जोखिम और लाभप्रदता कम और रूढ़िवादी दृष्टिकोण की तुलना में ये अधिक रहते हैं।

कार्यशील पूँजी प्रबंध और पूँजी बजटिंग में अन्तर

(Distinction between Working Capital Management and Capital Budgeting)

	कार्यशील पूँजी प्रबंध	पूँजी बजटिंग
1.	इसका संबंध चालू सम्पत्तियों में विनियोग से है।	इसका संबंध दीर्घ-कालीन सम्पत्तियों में वि से है।
2.	कार्यशील पूँजी प्रबंध का उद्देश्य कार्यशील पूँजी में अनुकूलतम (Optimum) विनियोग को निर्धारित करना और तरलता (Liquidity) को संतोषजनक स्तर पर बनाए रखना है।	पूँजी बजटिंग का उद्देश्य दीर्घ लाभदायकता (Profitability) को अ करने के उद्देश्य से उपलब्ध पूँजी का वि करना है।
3.	इन निर्णयों का प्रभाव अल्प-कालीन होता है।	इन निर्णयों का प्रभाव दीर्घ-कालीन होता है इन निर्णयों का प्रभाव फर्म द्वारा दीर्घका महसूस किया जाएगा।
4.	यह निर्णय बार-बार लिए जाते हैं।	यह निर्णय बार-बार नहीं लिए जाते हैं अ आसानी से परिवर्तित भी नहीं किया जा सक
5.	यह कम राशि के विनियोग से संबंधित होते हैं।	यह बड़ी राशि के विनियोग से संबंधित हो
6.	यह निर्णय कम जोखिमपूर्ण होते हैं।	यह निर्णय अधिक जोखिमपूर्ण होते हैं भविष्य के लाभ अनिश्चित होते हैं।
7.	इन निर्णयों को करना सरल होता है।	इन निर्णयों को करना कठिन होता है क्यों करने के लिए भविष्य की घटनाओं का लगाना होता है जबकि ये घटनाएँ अनिश्चि हैं और इनकी भविष्यवाणी करना कठिन ह

कार्यशील पूँजी का विश्लेषण

(Analysis of Working Capital)

किसी संस्था की कार्यशील पूँजी का विश्लेषण आन्तरिक एवं बाह्य पक्षों द्वारा किया जाता है पक्षों में बैंक, लेनदार, वित्तीय संस्थाएँ, ऋणपत्रधारी तथा वर्तमान एवं भावी अंशधारी सम्मिलित हैं। इन पक्षकारों द्वारा कार्यशील पूँजी को विश्लेषण करने का उद्देश्य संस्था की तरलता का अनुमा है अर्थात वह यह ज्ञात करना चाहते हैं कि उनके ऋणों का देय तिथि पर भुगतान करने के लिए फर्म पर्याप्त मात्रा में चालू सम्पत्तियाँ होंगी या नहीं। वह यह भी ज्ञात करना चाहते हैं कि कार्यशील पूँजी पर्याप्त है या अपर्याप्त और इसका कुशल प्रयोग किया जा रहा है या नहीं। कार्यशील पूँजी के विश निम्न विधियाँ हैं :

(1) **कार्यशील पूँजी में परिवर्तन की अनुसूची** (Schedule of Changes in W Capital)– इस अनुसूची की सहायता से विभिन्न चालू सम्पत्तियों और चालू दायित्वों में हुई वृ कमी को ज्ञात किया जा सकता है। इसकी व्याख्या 'कोष प्रवाह विवरण' के अध्याय में की गई है

(2) **अनुपात विश्लेषण** (Ratio Analysis) – निम्न अनुपातों की सहायता से कार्यशील विश्लेषण किया जा सकता है :

(अ) **तरलता अनुपात** (Liquidity Ratios) :

(*i*) Current Ratio $= \dfrac{\text{Current Assets}}{\text{Current Liabilities}}$

(*ii*) Quick Ratio $= \dfrac{\text{Liquid Assets}}{\text{Current Liabilities}}$

(*iii*) Absolute Liquidity Ratio $= \dfrac{\text{Cash + Bank + Marketable Securities}}{\text{Current Liabilities}}$

(ब) **क्रियाशीलता अनुपात** (Activity Ratios) :

(*i*) Working Capital Turnover Ratio $= \dfrac{\text{Cost of Goods Sold}}{\text{Working Capital}}$

(*ii*) Stock Turnover Ratio $= \dfrac{\text{Cost of Goods Sold}}{\text{Average Stock}}$

(*iii*) Debtors Turnover Ratio $= \dfrac{\text{Credit Sales}}{\text{Average Debtors + Average B/R}}$

(*iv*) Average Collection Period $= \dfrac{\text{Average Debtors + Average B/R}}{\text{Credit Sales per day}}$

(*v*) Creditors Turnover Ratio $= \dfrac{\text{Credit Purchase}}{\text{Average Creditors + Average B/P}}$

(*vi*) Average Payment Period $= \dfrac{\text{Average Creditors + Average B/P}}{\text{Credit Purchase per day}}$

इन अनुपातों की व्याख्या 'अनुपात विश्लेषण' के अध्याय में की गई है।

(3) **कोष प्रवाह विवरण** (Funds Flow Statement) – यह विवरण यह प्रकट करता है कि कोष किन स्रोतों से प्राप्त किए गए थे और इन्हें किस प्रकार उपयोग किया गया। इस विवरण की सहायता से कार्यशील पूँजी में वृद्धि और कमी के कारणों का विश्लेषण किया जा सकता है। इसकी व्याख्या 'कोष प्रवाह विवरण' के अध्याय में की गई है।

(4) **रोकड़ प्रवाह विवरण** (Cash Flow Statement) – यह विवरण एक विशेष अवधि के दौरान रोकड़ के अन्तर्वाह (inflow) और बहिर्वाह (outflow) को प्रदर्शित करता है। इस विवरण की सहायता से दो स्थिति विवरण की तिथियों पर रोकड़ शेष में हुए परिवर्तनों के कारणों का विश्लेषण किया जा सकता है। इसकी व्याख्या 'रोकड़ प्रवाह विवरण' के अध्याय में की गई है।

कार्यशील पूँजी की गणना (Computation of Working Capital)

अथवा

कार्यशील पूँजी पूर्वानुमान तकनीकें (Working Capital Forecasting Techniques)

कार्यशील पूँजी की मात्रा का निर्धारण करने की अनेक विधियाँ हैं। इनमें से प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) संचालन चक्र विधि (Operating Cycle Method)

(2) चालू सम्पत्तियों तथा चालू दायित्वों के पूर्वानुमान की विधि (Forecasting of Current Assets and Current Liabilities Method)

(3) रोकड़ पूर्वानुमान विधि (Cash Forecasting Method)

(4) विक्रय की प्रतिशत विधि (Percentage of Sales Method)

(5) सम्भावित स्थिति विवरण विधि (Projected Balance Sheet Method)

(1) **संचालन चक्र विधि** (Operating Cycle Method) – संचालन चक्र वह समय अवधि (time span) है जो कच्चे माल को क्रय करने, इसे अर्द्ध-निर्मित माल में तथा निर्मित माल में परिवर्तन करने, निर्मित माल को विक्रय में परिवर्तन करने और देनदारों से रुपया प्राप्त करने में लगती है। संचालन चक्र की समय अवधि जितनी अधिक होती है उतना ही चालू सम्पत्तियों में विनियोग बढ़ जाता है। अतः संचालन चक्र की प्रत्येक अवस्था में लगने वाली समय अवधि का अनुमान लगाया जाता है और इसके बाद प्रत्येक मद की लागत के आधार पर प्रत्येक अवस्था की कार्यशील पूँजी की आवश्यकता की गणना की जाती है। संचालन चक्र विधि के आधार पर कार्यशील पूँजी की मात्रा अनुमानित करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए :

(*i*) कच्चे माल, मजदूरी तथा उपरिव्ययों पर लगाई जाने वाली लागत।

(*ii*) उत्पादन के लिए निर्गमित किए जाने से पूर्व कच्चे माल के गोदाम में रहने की अवधि।

(*iii*) उत्पादन चक्र की अवधि।

(*iv*) विक्रय से पूर्व निर्मित माल के गोदाम में रहने की अवधि।

(*v*) देनदारों को दी गई उधार की अवधि तथा लेनदारों द्वारा दी गई उधार की अवधि।

(*vi*) मजदूरी तथा उपरिव्ययों के भुगतान में समय विलम्ब।

(*vii*) न्यूनतम रोकड़ शेष, जो रखा जाना है।

कार्यशील पूँजी की आवश्यकता का निर्धारण करने के लिए उपरोक्त अनुमानों में एक निश्चित प्रतिशत आकस्मिकताओं के लिए और जोड़ दिया जाता है।

संचालन चक्र के आधार पर कार्यशील पूँजी का पूर्वानुमान निम्न प्रकार से लगाया जा सकता है :

Statement Showing Working Capital Requirement

Current Assets :

(*i*) **Stock of Raw-Materials :** ₹

$$\text{Cost of yearly consumption of raw material} \times \frac{\text{Average Inventory holding period (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots$$

(*ii*) **Work in process :**

$$\text{Cost of yearly consumption of raw material} \times \frac{\text{Average Time span of work in process (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}}$$

$$+ \text{Yearly wages} \times \frac{50}{100} \times \frac{\text{Average Time span of work in process (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}}$$

$$+ \text{Yearly manufacturing and administrative overheads (excluding depreciaion)}$$

$$\times \frac{50}{100} \times \frac{\text{Average Time span of work in process (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots$$

नोट : Work in process की गणना करते समय यह मान लिया जाता है कि कच्चे माल की पूरी ईकाई ी आवश्यकता उत्पादन प्रक्रिया के आरम्भ में ही पड़ जाती है जबकि मजदूरी और अन्य उपरिव्यय पू ंचालन चक्र के दौरान समान रूप से होते रहते हैं। अतः कच्चे माल की लागत को 100% तथा मजदूरी और परिव्ययों को औसत आधार पर 50% लिया जाता है।

(*iii*) **Stock of finished goods :**

Cost of goods produced (*i.e.* yearly cost of raw materials + wages + manufacturing & administrative overheads excluding depreciation)

$$\times \frac{\text{Average finished goods holding period (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots\ldots$$

(*iv*) **Debtors :**

Working Capital tied up in debtors should be estimated on the basis of cost of sales (excluding depreciation) :

$$\text{Cost of goods produced (\textit{i.e.} raw materials + wages + manufacturing, administrative \& selling overhead)} \times \frac{\text{Average debt collection period (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots\ldots$$

(*v*) **Cash and Bank Balance :**

(*i.e.* minimum cash balance required to be maintained = ...

Total Current Assets = ...

Less : **Current Liabilities :**

(The working capital requirements are lower to the extent such requirements are met through current liabilities)

(*i*) **Trade Creditors :**

$$\text{Cost of yearly consumption of raw material} \times \frac{\text{Credit period allowed by creditors (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots\ldots$$

(*ii*) **Wages :**

$$\text{Yearly wages} \times \frac{\text{Average time lag in payment of wages (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots\ldots$$

नोट : यदि मजदूरी का भुगतान प्रत्येक माह की अन्तिम तिथि को किया जाता है तो मजदूरी के भुगतान में समय विलम्ब औसत रूप से लगभग आधे महीने का होगा। इसका कारण यह है कि महीने के पहले दिन की मजदूरी 30वें दिन दी जाती है जिससे 29 दिन का उधार प्राप्त हो जाता है; महीने के दूसरे दिन की मजदूरी 30वें दिन दी जाती है जिससे 28 दिन का उधार प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार अन्य। अत: औसत रूप से आधे महीने का समय विलम्ब हो जाता है।

(*iii*) **Overheads :**

$$\text{Yearly Overheads (other than depreciation)} \times \frac{\text{Average time lag in payment of overheads (weeks / months)}}{\text{52 weeks / 12 months}} = \ldots\ldots\ldots$$

Working Capital (Current Assets – Current Liabilities) ....

Add : Provision for Contingencies ....

Estimated Working Capital requirement ₹ ....

(2) **चालू सम्पत्तियों तथा चालू दायित्वों के पूर्वानुमान की विधि** (Forecastin Current Assets and Current Liabilities Method) – इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों पिछले अनुभव, पिछले वर्षों की साख नीति, स्टॉक नीति तथा भुगतान नीति के आधार पर आगामी की चालू सम्पत्तियों और चालू दायित्वों का अनुमान लगाया जाता है। ऐसा अनुमान सर्वप्रथम प्रत्ये सम्पत्ति के लिए मासिक आधार पर लगाया जाता है और इसके बाद मासिक आवश्यकता के आधार प सम्पत्तियों की वार्षिक आवश्यकता का अनुमान लगा लिया जाता है। इसमें से चालू दायित्वों की अनु राशि घटाकर कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं का अनुमान लगा लिया जाता है। इस रा आकस्मिकताओं के लिए एक निश्चित प्रतिशत भी जोड़ लिया जाता है।

(3) **रोकड़ पूर्वानुमान विधि** (Cash Forecasting Method) – इस विधि के अन्तर्गत अ अवधि की रोकड़ प्राप्तियों और रोकड़ भुगतानों का अनुमान लगा लिया जाता है। अवधि के प्रा उपलब्ध कार्यशील पूँजी में अनुमानित रोकड़ प्राप्तियों को जोड़ लिया जाता है और इसमें से अनुमानित भुगतान की राशि को घटा दिया जाता है। शेष बची राशि कार्यशील पूँजी की राशि होगी।

(4) **विक्रय की प्रतिशत विधि** (Percentage of Sales Method) – इस विधि के अ पिछले वर्ष की सूचनाओं के आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण अनुपातों का निर्धारण कर लिया जाता है। ये अ हैं विक्रय का कच्चे माल के स्टॉक से अनुपात, विक्रय का अर्द्ध-निर्मित माल के स्टॉक से अनुपात, का निर्मित माल के स्टॉक से अनुपात, विक्रय का देनदारों से अनुपात, विक्रय का रोकड़ शेष से अ इत्यादि। इसके बाद, अगले वर्ष के विक्रय का अनुमान लगाया जाता है और इन अनुपातों के आध कार्यशील पूँजी की आवश्यकता का अनुमान लगा लिया जाता है।

(5) **सम्भावित स्थिति विवरण विधि** (Projected Balance Sheet Method) – इस वि किसी आगामी तिथि के लिए सम्पत्तियों व दायित्वों का अनुमान लगाकर उस आगामी तिथि को सम्भावित स्थिति विवरण बना लिया जाता है। सम्भावित स्थिति विवरण में प्रदर्शित चालू सम्पत्तियों और दायित्वों का अन्तर कार्यशील पूँजी होगा।

ILLUSTRATION 3.

From the following particulars of ABC Ltd., you are required to determine working capital required by the company :

		Per ann ₹
(*a*) Average amount locked up in stocks :		
Stock of raw materials		20,
Work-in progress		4,
Stock of finished goods		30,
(*b*) Average Credit given :		
Home Market	2 weeks Credit	2,60,
Foreign Market	6 weeks Credit	6,24,
(*c*) Time available for payment :		
For Purchases	4 weeks	1,56,
For Wages	2 weeks	2,08,
For Manufacturing Exp	1 week	78,

You may add 10% to allow for contingencies.

SOLUTION:

Statement Showing Working Capital Requirement

			₹
Current Assets :			
Stock of raw materials			20,000
Work-in progress			4,000
Stock of finished goods			30,000
Debtors :			
Home Market	$2{,}60{,}000 \times \frac{2}{52}$		10,000
Foreign Market	$6{,}24{,}000 \times \frac{6}{52}$		72,000
Total Current Assets			1,36,000
ess: **Current Liabilities :**			
Creditors	$1{,}56{,}000 \times \frac{4}{52}$	12,000	
Wages	$2{,}08{,}000 \times \frac{2}{52}$	8,000	
Manufacturing Exp.	$78{,}000 \times \frac{1}{52}$	1,500	21,500
			1,14,500
d: 10% for Contingencies			11,450
Estimated Working Capital requirement			1,25,950

USTRATION 4.

From the particulars given below, you are required to calculate the Working ital Requirements :

	₹
Expenses :	
Wages	52,000 p.a.
Materials and Stores	9,600 p.a.
Office Salaries	12,480 p.a.
Rent	2,000 p.a.
Other Expenses	9,600 p.a.
Average Amount of Stocks to be maintained :	
Stock of Finished Goods	1,000
Stock of Materials and Stores	1,600
Expenses paid in advance :	
Quarterly advance	1,600 p.a.
Sales :	
Home Market	62,400 p.a.
Foreign Market	15,600 p.a.
ag in payment of Expenses :	
Wages	$1\frac{1}{2}$ weeks
Materials and Stores	$1\frac{1}{2}$ months

Office Salaries	$\frac{1}{2}$ month
Rent	6 months
Other Expenses	$1\frac{1}{2}$ months
(*f*) Credit allowed to customers :	
Home Market	6 weeks
Foreign Market	$1\frac{1}{2}$ weeks

SOLUTION :

Statement Showing Working Capital Requirement

		₹
Current Assets :		
Stock of Materials and Stores		1,600
Stock of Finished Goods		1,000
Expenses paid in advance $1,600 \times \frac{3}{12}$		400
Debtors :		
Home Market (6 weeks) : $62,400 \times \frac{6}{52}$		7,200
Foreign Market ($1\frac{1}{2}$ weeks) : $15,600 \times \frac{3}{2} \times \frac{1}{52}$		450
		10,650
Less : **Current Liabilities :**		
Creditors for Materials and Stores ($1\frac{1}{2}$ months) : $9,600 \times \frac{3}{24}$	1,200	
Creditors for Expenses :		
Wages $52,000 \times \frac{3}{104}$	1,500	
Office Salaries $12,480 \times \frac{1}{24}$	520	
Rent $2,000 \times \frac{6}{12}$	1,000	
Other Exp. $9,600 \times \frac{3}{24}$	1,200	5,420
Working Capital Required		5,230

ILLUSTRATION 5.

X Ltd. commenced production on 1st January, 2015. Cost structure is detailed below :

	₹
Material	12 per unit
Wages	18 per unit
Other Variable Exp.	5 per unit
Fixed Exp.	25,000 per month

You are informed that :

(i) Payment for materials is to be made in the month following the purchase.

(ii) Expenses are payable in the month in which they are incurred.

(iii) One-fourth of sale units to be for cash and the rest on credit to be received in the following month.

(iv) The selling price is fixed at ₹60 per unit. The number of units manufactured and sold are expected to be as under :

January	1,000;	April	1,600
February	1,200;	May	2,000
March	1,800;	June	2,500

Prepare a statement showing the requirement of working capital on monthly basis. Ignore the question of stocks.

SOLUTION :

Statement of Working Capital Requirements

	Jan. ₹	Feb ₹	March ₹	April ₹	May ₹	June ₹
Receipts :						
From Cash Sales	15,000	18,000	27,000	24,000	30,000	37,500
From Credit Sales	—	45,000	54,000	81,000	72,000	90,000
Total (A)	15,000	63,000	81,000	1,05,000	1,02,000	1,27,500
Payments :						
Materials	—	12,000	14,400	21,600	19,200	24,000
Wages	18,000	21,600	32,400	28,800	36,000	45,000
Variable Exp.	5,000	6,000	9,000	8,000	10,000	12,500
Fixed Exp.	25,000	25,000	25,000	25,000	25,000	25,000
Total (B)	48,000	64,600	80,800	83,400	90,200	1,06,500
Cash Surplus/Deficit (A – B)	(–)33,000	(–)1,600	200	21,600	11,800	21,000
umulative Surplus/Deficit	(–)33,000	(–)34,600	(–)34,400	(–)12,800	(–)1,000	(+)20,000

LLUSTRATION 6.

From the following information taken from the books of a manufacturing concern, mpute the operating cycle in days :

Period covered	365 days
Average period of credit allowed by suppliers	18 days
	(₹ in '000)
Average debtors outstanding	490
Raw materials consumption	4,500
Total production cost	11,000
Total cost of sales	11,500
Sales for the year	20,000

Value of average stock maintained :

Raw materials	350
Work-in-progress	380
Finished goods	270

(D.U. B.Com. 2011, External)

SOLUTION : **Computation of Operating Cycle**

(1) Raw Materials Conversion Period :

$$\frac{\text{Average Stock of Raw Material}}{\text{Raw Materials Consumed}} \times 365 \qquad \frac{350}{4{,}500} \times 365 = 28 \text{ Days}$$

(2) Work in Progress Conversion Period :

$$\frac{\text{Average Stock of Work in Progress}}{\text{Total Cost of Production}} \times 365 = \frac{380}{11{,}000} \times 365 = 13 \text{ Days}$$

(3) Finished Goods Conversion Period :

$$\frac{\text{Average Stock of Finished Goods}}{\text{Total Cost of Sales}} \times 365 = \frac{270}{11{,}500} \times 365 = 9 \text{ Days}$$

(4) Debtors Conversion Period :

$$\frac{\text{Average Debtors}}{\text{Sales}} \times 365 = \frac{490}{20{,}000} \times 365 = 9 \text{ Days}$$

	59 Days
Less : Average Period allowed by Suppliers	18 Days
Net Operating Cycle	41 Da

11

रोकड़ एवं विक्रय योग्य प्रतिभूतियों का प्रबंध

(Management of Cash and Marketable Securities)

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, कार्यशील पूँजी के प्रबंध का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक चालू सम्पति का कुशल प्रबंध करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक चालू सम्पत्ति में विनियोग का अनुकूलतम स्तर निर्धारित किया जाता है। इस अध्याय में रोकड़ के प्रबंध का वर्णन किया गया है जबकि प्राप्यों (Receivables) तथा इन्वेन्ट्री के प्रबंध का वर्णन अगले अध्यायों में किया जाएगा।

चालू सम्पत्तियों में सबसे अधिक तरल सम्पत्ति रोकड़ है। अन्य सभी चालू सम्पत्तियाँ जैसे कि प्राप्य (Receivables) तथा इन्वेन्ट्री अन्तिम रूप से रोकड़ में परिवर्तित हो जाती हैं। अत: व्यवसाय को हर समय रोकड़ की अनुकूलतम मात्रा रखनी चाहिए। यह मात्रा न तो आवश्यकता से अधिक होनीं चाहिए और न ही आवश्यकता से कम।

'रोकड़ प्रबंध' शब्द में निम्नलिखित सम्मिलित होते हैं :

(अ) व्यवसाय में आवश्यक रोकड़ की अनुकूलतम मात्रा का निर्धारण करना।

(ब) रोकड़ शेष को अनुकूलतम स्तर पर बनाए रखना और आधिक्य रोकड़ को लाभदायक ढंग से विनियोग करना।

(स) प्राप्यों (अर्थात देनदारों तथा प्राप्य विपत्रों) से शीघ्रता से रुपया संग्रह करना तथा रोकड़ का कुशलता पूर्वक भुगतान करना।

रोकड़ का अर्थ

(Meaning of Cash)

रोकड़ प्रबंध के उद्देश्य से रोकड़ शब्द में न केवल सिक्के, करंसी नोट, चैक, बैंक ड्राफ्ट, बैंकों में माँग पर देय जमा राशियाँ ही सम्मिलित हैं बल्कि 'रोकड़ के निकट की सम्पत्तियाँ' (Near Cash Assets) जैसे कि विपणन योग्य प्रतिभूतियाँ और बैंकों में निश्चित अवधि के लिए जमा राशियाँ भी सम्मिलित हैं क्योंकि इन्हें शीघ्रता से नकदी में परिवर्तित किया जा सकता है।

रोकड़ शेष रखने के उद्देश्य (Motives for Holding Cash) – प्रत्येक व्यवसाय में सम्पत्तियाँ इसलिए रखी जाती हैं क्योंकि वह लाभार्जन करती हैं। परन्तु रोकड़ एक ऐसी सम्पत्ति है जो स्वयं लाभार्जन नहीं करती परन्तु फिर भी सभी व्यवसायों में पर्याप्त मात्रा में रोकड़ शेष रखा जाता है। रोकड़ शेष रखने के चार प्रमुख उद्देश्य अथवा कारण हैं :

(*i*) लेन-देन संबंधी उद्देश्य (Transaction Motive)

(*ii*) पहले से सावधानी संबंधी उद्देश्य (Precautionary Motive)

(*iii*) सट्टा संबंधी उद्देश्य (Speculative Motive), तथा

(*iv*) क्षतिपूर्ति संबंधी उद्देश्य (Compensating Motive)

(*i*) **लेन-देन संबंधी उद्देश्य** (Transaction Motive) – प्रत्येक व्यवसाय में अनेकों लेन-देन होते रहते हैं। इनमें से कुछ लेन-देनों के परिणामस्वरूप रोकड़ बहिर्वाह (Cash Outflow) होता है जैसे कि

क्रय, मजदूरी, संचालन व्यय, वित्तीय व्यय जैसे कि ब्याज, कर, लाभांश इत्यादि के लिए भुगतान। इसी प्रकार, कुछ लेन-देनों के परिणामस्वरूप रोकड़ अन्तर्वाह (Cash Inflow) होता है जैसे कि विक्रय से प्राप्ति, विनियोगों से प्राप्ति तथा अन्य आय। परन्तु रोकड़ बहिर्वाह तथा रोकड़ अन्तर्वाह एक दूसरे के साथ पूर्ण रूप से मेल नहीं खाते। कभी-कभी रोकड़ का अन्तर्वाह रोकड़ के बहिर्वाह से अधिक होता है और कभी-कभी रोकड़ का बहिर्वाह रोकड़ के अन्तर्वाह से अधिक हो जाता है। जब रोकड़ का बहिर्वाह रोकड़ के अन्तर्वाह से अधिक होता है तो ऐसी दशा में रोकड़ की कमी की पूर्ति के लिए व्यवसाय के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ शेष होना चाहिए।

(*ii*) **पहले से सावधानी संबंधी उद्देश्य** (Precautionary Motive) – प्रत्येक व्यवसाय में आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए पहले से ही सावधानी रखते हुए कुछ रोकड़ शेष रखा जाता है। ऐसी आकस्मिक घटनाओं में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :

(अ) बाढ़, हड़ताल तथा महत्त्वपूर्ण ग्राहकों का फेल हो जाना,

(ब) देनदारों से वसूली में अचानक कमी आ जाना,

(स) ग्राहकों द्वारा माल के आर्डर रद्द किए जाना,

(द) कच्चे माल की लागत में काफी वृद्धि होना,

(स) संचालन व्ययों में वृद्धि इत्यादि।

(*iii*) **सट्टा संबंधी उद्देश्य** (Speculative Motive) – व्यवसाय में समय-समय पर आने वाले लाभप्रद अवसरों का लाभ उठाने के उद्देश्य से कुछ रोकड़ हमेशा अलग से रखी जाती है। ये अवसर हैं :

(अ) रोकड़ के तुरन्त भुगतान द्वारा कच्चे माल को कम मूल्य पर खरीदने का अवसर

(ब) प्रतिभूतियों को ऐसे समय पर क्रय करने का अवसर जब इनके मूल्य कम हों।

(स) अन्य सम्पत्तियों को ऐसे समय पर क्रय करने का अवसर जब इनके मूल्य कम हों।

(*iv*) **क्षतिपूर्ति संबंधी उद्देश्य** (Compensating Motive) – बैंक व्यवसाय को अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते हैं जैसे कि चैकों की क्लीयरेन्स (Clearance of Cheques), अन्य ग्राहकों के विषय में साख संबंधी सूचनाएँ देना, कोषों का हस्तांतरण इत्यादि। इन सेवाओं में से कुछ के लिए तो बैंक कमीशन अथवा फीस आदि चार्ज कर लेते हैं। कुछ अन्य सेवाओं के लिए वह कुछ भी कमीशन, फीस आदि चार्ज नहीं करते परन्तु इनके लिए वह अप्रत्यक्ष क्षतिपूर्ति चाहते हैं। इसके लिए बैंक अपने ग्राहकों को अपने बैंक खातों में एक न्यूनतम शेष रखने के निर्देश देते हैं। ग्राहक इस न्यूनतम शेष का प्रयोग नहीं कर सकते औ बैंक इस राशि के प्रयोग से कुछ आय अर्जित करके ग्राहकों को निशुल्क प्रदान की गई सेवाओं की लागत की क्षतिपूर्ति कर लेते हैं। अत: बैंक द्वारा नि:शुल्क प्रदान की जाने वाली सेवाओं की क्षतिपूर्ति के लिए भ कुछ रोकड़ बैंक शेष के रूप में रखनी पड़ती है।

रोकड़ प्रबंध के उद्देश्य

(Objectives of Cash Management)

जैसा कि पहले कहा गया है, 'रोकड़ प्रबंध' शब्द में अनुकूलतम रोकड़ शेष रखना तथा रोकड़ कुशलतापूर्वक संग्रह और भुगतान सम्मिलित है। अत: रोकड़ प्रबंध के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(1) अनुकूलतम रोकड़ शेष रखना

(2) अनुकूलतम रोकड़ शेष को न्यूनतम स्तर पर रखना।

(1) **अनुकूलतम रोकड़ शेष रखना** (To maintain Optimum Cash balance) – रो प्रबंध का मुख्य उद्देश्य व्यवसाय के लिए आवश्यक रोकड़ शेष की अनुकूलतम राशि निर्धारित करना रोकड़ शेष को उस स्तर पर बनाए रखना है। अनुकूलतम रोकड़ शेष निर्धारित करने के लिए व्यवसा

तरलता (Liquidity) तथा लाभप्रदता (Profitability) में संतुलन स्थापित करना आवश्यक है। रोकड़ शेष का स्तर ऊँचा रखने से व्यवसाय की तरलता में वृद्धि होती है जिससे शीघ्र भुगतान करके शीघ्र भुगतान करने के लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। परन्तु दूसरी तरफ, रोकड़ शेष के ऊँचे स्तर का परिणाम यह भी होगा कि व्यवसाय में काफी बड़ी मात्रा में रोकड़ बेकार पड़ी रहेगी जिससे व्यवसाय की लाभप्रदता कम हो जाएगी क्योंकि रोकड़ एक गैर-उपार्जन सम्पत्ति (non-earning asset) है। इसी प्रकार, रोकड़ स्तर न्यून रखने का परिणाम यह हो सकता है कि व्यवसाय अपने दायित्वों का सही समय पर भुगतान न कर पाए। व्यवसाय की रोकड़ संबंधी सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए रोकड़ के एक अनुकूलतम स्तर का निर्धारण किया जाना चाहिए।

पर्याप्त रोकड़ शेष के निम्नलिखित लाभ होते हैं :

(i) यह दायित्वों का समय पर भुगतान न करने के कारण उत्पन्न होने वाले व्यवसाय के दिवालियापन को रोकता है।

(ii) यह अनुकूल व्यावसायिक अवसरों का लाभ उठाने में सहायक है।

(iii) व्यवसाय आकस्मिकताओं का आसानी से सामना कर सकता है।

(iv) पर्याप्त रोकड़ शेष की सहायता से समय पर भुगतान करके नकद छूट का लाभ उठाया जा सकता है।

(v) पर्याप्त रोकड़ शेष, लेनदारों को सही समय पर भुगतान करके उनसे अच्छे संबंध स्थापित करने में सहायक है।

(vi) बैंक में पर्याप्त शेष रखने से बैंक से संबंध खराब नहीं होते हैं।

(2) **अनुकूलतम रोकड़ शेष को न्यूनतम स्तर पर रखना** (To keep the optimum cash balance at minimum level) – रोकड़ प्रबंध का दूसरा मुख्य उद्देश्य अनुकूलतम रोकड़ शेष की आवश्यकता को न्यूनतम स्तर पर रखना है क्योंकि रोकड़ एक गैर-उपार्जन सम्पत्ति (non-earning asset) है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रोकड़ प्रवाहों का इस प्रकार से प्रबंध किया जाता है कि रोकड़ संग्रह शीघ्र हों और दायित्वों का सही समय पर भुगतान किया जाए। शीघ्र रोकड़ संग्रह का उद्देश्य माल के विक्रय और देनदारों से संग्रह के बीच के समय अन्तराल में कमी लाना है। दायित्वों के सही समय पर भुगतान का उद्देश्य कुछ विशेष लाभ प्राप्त करना है जैसे पूर्तिकर्ताओं से कटौती प्राप्त करना, पूर्तिकर्ताओं से अच्छे संबंध स्थापित करना, पूर्तिकर्ताओं में अच्छी साख स्थापित करना आदि।

रोकड़ की आवश्यकता तथा रोकड़ के स्तर को निर्धारित करने वाले तत्त्व

(Factors determining cash needs and Levels of Cash)

व्यवसाय की रोकड़ की आवश्यकता को प्रभावित अथवा निर्धारित करने वाले तत्त्व निम्नलिखित हैं :

(1) **रोकड़ प्रवाहों के समय** (Timing of Cash Flows) – रोकड़ शेष रखने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है क्योंकि रोकड़ अन्तर्वाह तथा रोकड़ बहिर्वाह अलग-अलग समय पर होते हैं। यदि रोकड़ अन्तर्वाहों तथा बहिर्वाहों का पूर्ण रूप से मिलान हो जाए अर्थात यदि ये एक ही समय पर हों तो रोकड़ शेष रखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। रोकड़ शेष रखने की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि रोकड़ बहिर्वाह अन्तर्वाहों से अधिक हो जाते हैं। अतः रोकड़ अन्तर्वाहों और बहिर्वाहों का सही पूर्वानुमान लगाकर रोकड़ की आवश्यकता का निर्धारण किया जा सकता है। पूर्वानुमान रोकड़ बजट बनाकर किया जाता है। रोकड़ बजट तैयार करने की विधि का वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है।

(2) **रोकड़ कमी की लागतें** (Cash Shortage Costs) – रोकड़ बजट से रोकड़ की कमी की मात्रा तथा कमी की अवधियों का पता लग जाता है। रोकड़ की जब भी कमी पड़ती है तो इसकी पूर्ति के

लिए एक लागत उठानी पड़ती है जो कमी की मात्रा तथा अवधि पर निर्भर करती है। रोकड़ की कमी के कारण जो लागतें उठानी पड़ती हैं उन्हें 'रोकड़ कमी की लागतें' (Cash shortage costs) कहा जाता है। रोकड़ कमी की लागतों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :

(*i*) कमी को पूरा करने के लिए रोकड़ प्राप्त करने से संबंधित सौदे के व्यय जैसे कि विपणन योग्य प्रतिभूतियों के विक्रय के लिए दी गई दलाली।

(*ii*) कमी को पूरा करने के लिए उधार लेने की लागत जैसे कि ब्याज।

(*iii*) बैंक में न्यूनतम शेष न रखने के कारण बैंकों द्वारा चार्ज किया जाने वाला अतिरिक्त ब्याज।

(*iv*) साख की क्षति से संबंधित लागतें जैसे कि कच्चे माल की आपूर्ति में कमी, पूर्तिकर्ताओं द्वारा कम अनुकूल शर्तों पर माल देना आदि।

(*v*) रोकड़ की कमी के कारण सही समय पर भुगतान न करने के कारण नकद छूट की हानि।

रोकड़ की आवश्यकताओं का अनुमान लगाते समय रोकड़ की कमी के साथ-साथ रोकड़ कमी की लागतों का भी ध्यान रखना चाहिए।

(3) **आधिक्य रोकड़ की लागतें** (Cash Excess Costs) – यदि कोई फर्म अपनी आवश्यकता से अधिक रोकड़ शेष रखती है तो वह इसे और कहीं विनियोग करने के अवसर से वंचित रह जाएगी। परिणामस्वरूप उसे उस ब्याज की हानि हो जाएगी जो वह इस आधिक्य रोकड़ को और कहीं विनियोग करके प्राप्त कर सकती थी। रोकड़ के स्तर का निर्धारण करते समय इस तत्त्व का भी ध्यान रखना चाहिए और इसलिए रोकड़ के स्तर का अत्यधिक अनुमान नहीं लगाना चाहिए।

(4) **रोकड़ प्रबंध की लागतें** (Cash Management Costs) – रोकड़ प्रबंध के लिए भी कुछ लागतें उठानी होती हैं जैसे कि रोकड़ प्रबंध स्टॉफ का वेतन, लिपिक व्यय इत्यादि। रोकड़ की आवश्यकता का निर्धारण करते समय इस तत्त्व को भी ध्यान में रखना चाहिए।

(5) **अनिश्चितता** (Uncertainty) – रोकड़ प्रवाहों का कभी भी पूर्ण शुद्धता के साथ पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता और इनके पूर्वानुमान में हमेशा ही कुछ अनिश्चितता रहती है जैसे कि देनदारों से संग्रह में असम्भावित देरी। इन अनिश्चतताओं का सामना करने के लिए फर्म को हमेशा ही कुछ अतिरिक्त रोकड़ रखनी चाहिए।

(6) **आपातकाल में फर्म की उधार लेने की क्षमता** (Firm's Capacity to Borrow in Emergent Situations)–यदि कोई फर्म आपातकाल में शीघ्रतापूर्वक उधार लेने की क्षमता रखती है तो यह रोकड़ का स्तर निम्न रख सकती है। फर्म की उधार लेने की क्षमता कई तत्त्वों पर निर्भर करती है जैसे कि फर्म की साख की स्थिति (Credit standing), बैंकों के साथ संबंध इत्यादि।

(7) **प्रबंध का दृष्टिकोण** (Attitude of Management) – प्रबंध का तरलता तथा लाभप्रदता के प्रति दृष्टिकोण रोकड़ के स्तर को प्रभावित करता है। यदि प्रबंध लाभप्रदता की अपेक्षा तरलता को अधिक महत्त्व देता है तो रोकड़ का स्तर उच्च होगा। इसके विपरीत, यदि वह तरलता की अपेक्षा लाभप्रदता को अधिक महत्त्व देता है तो रोकड़ का स्तर निम्न होगा।

(8) **प्रबंध की कुशलता** (Efficiency of Management) – यदि प्रबंध ग्राहकों से रोकड़ संग्रह करने में तीव्रता और भुगतानों में धीमापन ला सकता है तो वह रोकड़ का स्तर निम्न रख सकता है।

रोकड़ प्रबंध की विधियाँ अथवा साधन

(Methods or Devices of Cash Management)

इन्हें रोकड़ प्रबंध की तकनीकें (Techniques) अथवा युक्तियाँ भी कहा जाता है। इनमें निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :

(1) रोकड़ बजट (Cash Budget)
(2) रोकड़ प्रवाह विवरण (Cash Flow Statement)
(3) रोकड़ प्रवाह अनुपात (Cash Flow Ratios)
(4) रोकड़ प्रबंध मॉडल (Cash Management Model or Baumol Model)
(5) मिलर-ऑर माडल (Miller-Orr Model)

(1) **रोकड़ बजट** (Cash Budget) – रोकड़ बजट भविष्य की एक निश्चित अवधि का रोकड़ प्राप्तियों और रोकड़ भुगतानों का अनुमान होता है। यह एक निश्चित अवधि के लिए रोकड़ की आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाने के लिए तैयार किया जाता है और बजट अवधि के दौरान रोकड़ के आधिक्य अथवा कमी को प्रदर्शित करता है।

रोकड़ बजट के दो भाग होते हैं :

I. **रोकड़ प्राप्तियाँ** (Cash Receipts) : रोकड़ की प्राप्ति प्रायः नकद बिक्री, ग्राहकों से उधार वसूली, विनियोगों से प्राप्त आय आदि से होती है।

II. **रोकड़ भुगतान** (Cash Payments) : भुगतान प्रायः नकद क्रय, लेनदारों को भुगतान तथा व्ययों का भुगतान होता है।

भविष्य की रोकड़ की प्राप्तियों तथा भुगतानों का अनुमान लगाकर यह ज्ञात किया जाता है कि किन महीनों में आधिक्य रोकड़ होगी और किन महीनों में रोकड़ की कमी रहेगी।

रोकड़ बजट के उद्देश्य या महत्त्व या उपयोगिता
(Objects or Importance or Utility of Cash Budget)

(1) **भविष्य की रोकड़ की आवश्यकताओं का अनुमान लगाने में सहायक** (Helpful in estimating the future cash requirements) : रोकड़ बजट से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किन-किन महीनों के अन्त में रोकड़ आधिक्य में रहेगी और किन-किन महीनों में रोकड़ की कमी रहेगी। अतः प्रबंधक सही समय पर रोकड़ का प्रबंध करने की उचित योजना बना लेते हैं।

(2) **वित्त प्राप्ति के उचित स्रोत का चुनाव करने में सहायक** (Helpful in the selection of proper source of finance) : रोकड़ बजट से यह ज्ञात हो जाता है कि वित्त की कमी अल्पकाल के लिए है अथवा दीर्घकाल के लिए। इस सूचना से वित्त प्राप्ति के उचित स्रोत का चुनाव करने में सहायता मिलती है। यदि वित्त की कमी अल्पकाल के लिए है तो बैंक अधिविकर्ष वित्त प्राप्ति का उचित साधन हो सकता है परन्तु यदि वित्त की कमी दीर्घकाल के लिए है तो कम्पनी जनता से निक्षेप प्राप्त करने अथवा ऋणपत्र या नए अंश निर्गमित करने की योजना बना सकती है।

(3) **आधिक्य रोकड़ का विनियोग करने में सहायक** (Helpful in the investment of surplus cash) : रोकड़ बजट से यह ज्ञात हो जाता है कि व्यवसाय में किन-किन महीनों के अन्त में कितनी धनराशि आधिक्य में पड़ी रहेगी। इससे प्रबंधक व्यर्थ में पड़ी इस राशि को अल्पकालीन प्रतिभूतियों में विनियोग करने की योजना बना सकते हैं जिससे एक तरफ तो इन विनियोगों से आय प्राप्त होती है तथा दूसरी तरफ धन की आवश्यकता पड़ने पर इन्हें तुरन्त बेचा जा सकता है।

(4) **नकद छूट प्राप्त करने में सहायक** (Helpful in getting Cash Discount) : रोकड़ बज से यह ज्ञात हो जाता है कि किन-किन महीनों के अन्त में रोकड़ आधिक्य में रहेगी। अतः प्रबंधक उन मही में नकद माल खरीद कर नकद छूट प्राप्त करने की योजना बना सकते हैं जिन महीनों में रोकड़ आधिक्य रहेगी।

(5) **सम्पत्ति क्रय की योजना बनाने में सहायक** (Helpful in planning for purchase of assets) : रोकड़ बजट से प्रबंधकों को यह ज्ञात हो जाता है कि सम्पत्तियाँ क्रय करने के लिए व्यवसाय के आन्तरिक साधनों से पर्याप्त रोकड़ उपलब्ध होगी या नहीं। यदि रोकड़ बजट से यह ज्ञात होता है कि सम्पत्ति क्रय के लिए आन्तरिक साधनों से पर्याप्त रोकड़ उपलब्ध नहीं होगी तो प्रबंधकों को इसके लिए बाह्य साधनों से धन का प्रबंध करना होगा।

(6) **उचित लाभांश नीति के निर्धारण में सहायक** (Helpful in the determination of proper dividend policy) : अंशों पर लाभांश घोषित करने के लिए केवल लाभ का होना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि पर्याप्त मात्रा में रोकड़ का होना भी आवश्यक है। कई बार काफी लाभ होने पर भी फर्म में रोकड़ की कमी हो सकती है। ऐसा अत्यधिक मात्रा में उधार बिक्री होने पर अथवा कोई स्थायी सम्पत्ति खरीदने की दशा में हो सकता है। ऐसी दशा में पर्याप्त रोकड़ उपलब्ध होने तक कम्पनी लाभांश वितरण पर रोक लगा सकती है।

(7) **अधिक खर्च पर रोक** (Restricts Overspending) : रोकड़ बजट से प्रबंधकों की अधिक खर्च करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगता है। रोकड़ बजट से प्रबंधकों को भविष्य में उपलब्ध होने वाली रोकड़ का क्योंकि पहले से ही ज्ञान होता है अत: वे अपने व्यय पर नियन्त्रण कर सकते हैं और नकद भुगतानों को नकद प्राप्तियों के अनुसार समायोजित कर सकते हैं।

(8) **रोकड़ पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण** (Effective Control on Cash) : बजट की अवधि के अन्त में वास्तविक रोकड़ प्राप्तियों और भुगतानों की तुलना रोकड़ बजट से की जाती है और अन्तर के कारणों का पता लगाकर प्रबंध द्वारा सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है।

रोकड़ बजट तैयार करने की विधियाँ (Methods of preparing Cash Budget)

रोकड़ बजट निम्न तीन विधियों में से किसी भी विधि से तैयार किया जा सकता है :

(*i*) प्राप्ति और भुगतान विधि (Receipt and Payment Method)

(*ii*) समायोजित लाभ-हानि विधि या 'रोकड़ प्रवाह विवरण' विधि (Adjusted Profit and Loss Method or Cash Flow Method)

(*iii*) स्थिति विवरण विधि (Balance Sheet Method)

(*i*) **प्राप्ति और भुगतान विधि** (Receipt and Payment Method) : इस विधि में किसी संस्था की बजट अवधि की सभी रोकड़ प्राप्तियों और भुगतानों का पूर्वानुमान लगाया जाता है। इसके पश्चात सभी अनुमानित रोकड़ प्राप्तियों को प्रारम्भिक रोकड़ शेष में जोड़ दिया जाता है और अनुमानित रोकड़ भुगतानों को इसमें से घटा दिया जाता है जिससे कि रोकड़ का अनुमानित अन्तिम शेष ज्ञात हो जाता है।

इस विधि के अनुसार रोकड़ बजट तैयार करने के लिए निम्नलिखित कदम (Steps) लेने होते हैं :

(1) **बजट की अवधि निर्धारित करना** (Determination of the Period of Budget) : प्राय रोकड़ बजट एक वर्ष के लिए तैयार किया जाता है परन्तु व्यवसाय की आवश्यकता के अनुसार इसे मासिक त्रैमासिक अथवा छमाही भी बनाया जा सकता है। मौसमी (Seasonal) उद्योगों में यह किसी विशेष मौस के लिए बनाया जा सकता है। अत: बजट बनाने से पूर्व बजट की अवधि का निर्धारण आवश्यक है।

(2) **रोकड़ प्राप्तियों का पूर्वानुमान लगाना** (Estimating the Cash Receipts) : रोक बजट बनाने के लिए दूसरा कदम बजट अवधि के दौरान विभिन्न स्रोतों से रोकड़ प्राप्ति का पहले से अनुमान लगाना है। रोकड़ प्राप्ति के मुख्य स्रोत नकद बिक्री, देनदारों से वसूली, विनियोगों से आय, अं तथा ऋणपत्रों के निर्गमन से प्राप्ति, आदि हैं। किसी भी व्यवसाय के लिए रोकड़ प्राप्ति का मुख्य स्रो

विक्रय' है। अतः रोकड़ बजट की शुद्धता विक्रय के सही पूर्वानुमान लगाने पर निर्भर करती है। प्रबंधक पने भूतकाल के अनुभव के आधार पर नकद तथा उधार विक्रय की राशि का पूर्वानुमान लगा सकते हैं। धार विक्रय से रोकड़ की प्राप्ति विक्रय की शर्तों पर तथा ग्राहकों के उधार चुकाने की आदतों पर निर्भर रती है। यद्यपि ग्राहकों से उधार राशि की प्राप्ति के समय का बिल्कुल सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता , फिर भी ग्राहकों के उधार चुकाने की आदत का अध्ययन करके इसका उचित पूर्वानुमान लगाया जा सकता । जैसे कि पिछले अनुभव से यह ज्ञात होता है कि प्रायः 20% बिक्री नकद तथा 80% उधार होती है तथा नदारों से राशि दो माह बाद प्राप्त होती है तो यदि जनवरी माह में कुल विक्रय का अनुमान 5 लाख ₹ है तो 0% अर्थात 1 लाख ₹ जनवरी में प्राप्त होंगे तथा शेष 4 लाख₹ मार्च में प्राप्त होंगे।

(3) **रोकड़ भुगतानों का पूर्वानुमान लगाना** (Estimating the Cash Payments) : तृतीय दम अवधि के दौरान किए जाने वाले रोकड़ भुगतानों का पूर्वानुमान लगाना है। भुगतानों में नकद क्रय, नदारों को भुगतान, मजदूरी का भुगतान, कार्यालय एवं विक्रय व्ययों का भुगतान, करों का भुगतान, सम्पत्ति य के लिए भुगतान आदि शामिल हैं। पिछले अनुभव के आधार पर इनमें से प्रत्येक भुगतान के समय क अनुमान लगाया जाता है जैसे कि यदि लेनदारों (Creditors) से एक माह की उधार अवधि प्राप्त होती है त जनवरी के उधार क्रय का भुगतान फरवरी में किया जाएगा।

विभिन्न स्रोतों से रोकड़ प्राप्तियों तथा रोकड़ भुगतानों का अनुमान लगाने के बाद रोकड़ के प्रारम्भि शेष में सभी अनुमानित रोकड़ प्राप्तियों को जोड़ा जाता है और इस योग में से सभी अनुमानित रोकड़ भुगता को घटाया जाता है। इससे रोकड़ का अन्तिम शेष ज्ञात हो जाता है।

ILLUSTRATION 1.

Summarised below are the income and expenditure forecasts for the months March to July 2016:—

Months	*Sales*	*Purchases*	*Wages*	*Manufacturing Exp.*	*Indirect Exp*
	₹	₹	₹	₹	₹
March	50,000	32,000	8,000	5,000	6,000
April	60,000	36,000	10,000	7,000	8,000
May	68,000	40,000	11,000	8,000	8,500
June	75,000	45,000	12,500	10,000	7,000
July	90,000	48,000	12,500	9,000	9,000

Prepare Cash Budget for the month of May, June and July on the bas following information :—

(1) Cash balance as on Ist May, 2016 was ₹12,000.

(2) Sales and Purchases all are on credit. Period of credit allowed to debto month and allowed by creditors is 2 months.

(3) Lag in payment of Manufacturing Expenses is one month.

(4) Lag in payment of Indirect Expenses is $\frac{1}{2}$ month.

(5) Plant and Machinery costing ₹20,000 is due for delivery in July, payal on delivery and the balance after 3 months.

(6) Advance tax of ₹6,000 each is payable in June and September.

SOLUTION :

CASH BUDGET (May to July 2016)

Particulars	*May*	*June*	*July*
	₹	₹	₹
Opening Balance	12,000	13,750	11,500
Receipts :—			
Collected from Debtors	60,000	68,000	75,000
Total Receipts (A)	72,000	81,750	86,500
Payments :—			
Payment to creditors	32,000	36,000	40,000
Wages	11,000	12,500	12,500
Manufacturing Expenses	7,000	8,000	10,000
Indirect Expenses	8,250	7,750	8,000
Plant & Machinery (Only 20% of ₹20,000 paid in July)	—	—	4,000
Advance Tax	—	6,000	—
Total Payments (B)	58,250	70,250	74,500
Closing Balance (A – B)	13,750	11,500	12,000

टिप्पणियाँ (1) प्रत्येक महीने की रोकड़ का अन्तिम शेष (Closing Balance) अगले महीने का प्रारम्भिक शेष (Opening Balance) बन जाता है।

(2) देनदारों को 1 माह की उधार पर माल बेचा जाता है अत: अप्रैल में की गई बिक्री की राशि मई में प्राप्त होगी, मई में की गई बिक्री की राशि जून में प्राप्त होगी, तथा जून में की गई बिक्री की राशि जुलाई में प्राप्त होगी।

(3) लेनदारों (Creditors) को दो माह बाद भुगतान किया जाना है अत: मार्च के क्रय का मई में भुगतान किया जाएगा, अप्रैल के क्रय का जून में भुगतान किया जाएगा, तथा मई के क्रय का जुलाई में भुगतान किया जाएगा।

(4) निर्माण व्ययों (Manufacturing Expenses) का भुगतान भी 1 माह बाद करना है अर्थात अप्रैल के मई में, मई के जून में तथा जून के जुलाई में भुगतान करने हैं।

(5) अप्रत्यक्ष व्ययों का भुगतान आधे माह बाद करना है अत: अप्रैल के अप्रत्यक्ष व्ययों का आधा भाग मई में, मई का आधा भाग जून में और जून के अप्रत्यक्ष व्ययों का आधा भाग जुलाई में भुगतान करने हैं। अत: अप्रत्यक्ष व्ययों का भुगतान निम्न प्रकार होगा :

$$\text{May} = \frac{1}{2} \text{ of } ₹8{,}000 + \frac{1}{2} \text{ of } ₹8{,}500 = ₹8{,}250$$

$$\text{June} = \frac{1}{2} \text{ of } ₹8{,}500 + \frac{1}{2} \text{ of } ₹7{,}000 = ₹7{,}750$$

$$\text{July} = \frac{1}{2} \text{ of } ₹7{,}000 + \frac{1}{2} \text{ of } ₹9{,}000 = ₹8{,}000$$

ILLUSTRATION 2.

X Co. wishes to arrange overdraft facilities with its bankers during the period April o June 2016. Prepare a Cash Budget for the above period from the following data.

dicating the extent of the bank facilities the company will require at the end of each onth :—

Months	*Sales*	*Purchases*	*Wages*	*Other Expenses*
	₹	₹	₹	₹
February	40,000	22,000	2,000	3,000
March	30,000	24,000	2,500	4,000
April	16,000	36,000	3,000	4,800
May	25,000	40,000	3,500	6,400
June	20,000	32,000	4,000	8,000

(*a*) All the sales are made on credit. 60% of the credit sales are realised in the month following the sales and the remaining sales in the second month following.

(*b*) Creditors are paid in the month following the month of purchase.

(*c*) Cash at Bank on Ist April (estimated) ₹5,000.

(*d*) Lag in the payment of wages is one month.

(*e*) Lag in the payment of other expenses is $\frac{1}{8}$ month.

(*f*) Income from Investments ₹10,000 is to be received in May 2016.

LUTION :

CASH BUDGET (April to June 2016)

Particulars	*April*	*May*	*June*
	₹	₹	₹
ening Balance	5,000	7,800	(–) 5,800
eipts :—			
Collected from Debtors(1)	34,000	21,600	21,400
Income from Investments		10,000	
Total Receipts (A)	39,000	39,400	15,600
ments :—			
Creditors	24,000	36,000	40,000
Wages	2,500	3,000	3,500
Other Expenses	4,700	6,200	7,800
Total Payments (B)	31,200	45,200	51,300
Closing Balance (A –B)	7,800	(–) 5,800	(–) 35,700

t is clear from the cash budget prepared as above that it will be necessary to take erdraft of ₹5,800 in May 2016 which will be increased to ₹35,700 in June 2016.

Notes : (1) Amount collected from debtors has been calculated as below :

	February	*March*	*April*	*May*	*June*
	₹	₹	₹	₹	₹
t Sales	40,000	30,000	16,000	25,000	20,000

Amount received from debtors					
60% of the credit sales of previous month		24,000	18,000	9,600	15,000
40% of the credit sales of two months' earlier			16,000	12,000	6,400
Total Receipts			34,000	21,600	21,400

(2) $\frac{1}{8}$ th of other expenses of March will be paid in April; $\frac{1}{8}$ th of other expenses of April will be paid in May and so on. Hence, the payment for other expenses will be as follows :

April = $\frac{1}{8}$ th of ₹4,000 + $\frac{7}{8}$ th of ₹4,800 = ₹4,700

May = $\frac{1}{8}$ th of ₹4,800 + $\frac{7}{8}$ th of ₹6,400 = ₹6,200

June = $\frac{1}{8}$ th of ₹6,400 + $\frac{7}{8}$ th of ₹8,000 = ₹7,800

ILLUSTRATION 3.

From the following prepare a Cash Budget for the month of January, 2012 :

Cash in hand (estimated) on January, 1	₹20,000
Sales —December, 2011	₹50,000
January, 2012	₹80,000

80% amount is recovered in the month of sale and the balance is received in the subsequent month.

Purchases for the month of December, 2011 and January, 2012 are estimated to be ₹20,000 and ₹30,000 respectively. No credit period is allowed by the suppliers.

A sale commission of 5% is paid in cash in the month of sale itself.

SOLUTION :

CASH BUDGET

for the month of January, 2012

Particulars	₹
Opening Balance (Jan. 1, 2012)	20,000
Receipts :	
Received from sales of December, 2011 : $50,000 \times \frac{20}{100}$	10,000
Received from sales of January, 2012 : $80,000 \times \frac{80}{100}$	64,000
	94,000
Payments :	
Payment for the purchases of January, 2012	30,000
Sales Commission $80,000 \times \frac{5}{100}$	4,000
	34,000
Closing Balance on 31st January, 2012 (₹94,000 – ₹34,000)	60,000

ILLUSTRATION 4.

From the following information, prepare cash budget for the months of January to April :

Expected Sales	*Amount*	*Expected Purchases*	*Amount*
	₹		₹
January	60,000	January	48,000
February	40,000	February	80,000
March	45,000	March	81,000
April	40,000	April	90,000

Wages to be paid to workers ₹5,000 each month. Balance at Bank on 1st January ₹8,000. It has been decided by the management that :

(*i*) In the case of deficit of fund within the limit of ₹10,000, arrangement can be made with the bank.

(*ii*) In the case of deficit of fund exceeding ₹10,000 but within the limit of ₹42,000, issue of debentures is to be preferred.

(*iii*) In the case of deficit of fund exceeding ₹42,000, issue of shares is preferred.

SOLUTION :

CASH BUDGET

Particulars	*Jan.*	*Feb.*	*March*	*April*
	₹	₹	₹	₹
Opening balance	8,000	15,000	—	—
Receipts :				
Sales	60,000	40,000	45,000	40,000
Total Receipts (A)	68,000	55,000	45,000	40,000
Payments :				
Purchases	48,000	80,000	81,000	90,000
Wages	5,000	5,000	5,000	5,000
Total Payments (B)	53,000	85,000	86,000	95,000
Cash Available (Closing balance)	15,000			
Deficit (A – B) to be met by :				
Issue of Debentures		30,000	41,000	
Issue of Shares				55,000

ILLUSTRATION 5.

Prepare Cash Budget of Dehradun Fruit Co. Ltd. for three months, *i.e.*, April to June, 2012 on the basis of data given below :—

(*i*) Sales :—	₹
February 2012	60,000
March 2012	50,000
April to June 2012	80,000 per month.

Half the Sales are for Cash; 90% of Credit Sales are collected in the month following Sales and the balance one month later.

(*ii*) Fruits are always bought for cash to avail of cash discount of 5%. The purchase budget for the Second quarter (April to June) was 20,000 baskets per month at ₹2 per basket.

(*iii*) Wages & Salaries budget for the Second Quarter (April to June) was at ₹8,000 per month.

(*iv*) Manufacturing & other expenses budgeted for the quarter (April to June) :—

	₹
Cash Expenses (Manufacturing)	6,000
Depreciation	9,000
Selling Expenses	4,500
Administrative Expenses	5,000 (For April & May only)

Also estimate the cash requirements of Dehradun Fruit Co. Ltd. for June 2012.

SOLUTION :

CASH BUDGET

(April to June, 2012)

Particulars	*April*	*May*	*June*
	₹	₹	₹
Opening Balance	—	13,500	40,000
Receipts :—			
Cash Sales (1/2 of Sales)	40,000	40,000	40,000
Collected from Debtors$^{(3)}$	25,500	38,500	40,000
Total Receipts (A)	65,500	92,000	1,20,000
Payments :—			
Cash Purchases$^{(2)}$	38,000	38,000	38,000
Wages and Salaries	8,000	8,000	8,000
Cash Expenses (1/3 of ₹6,000 *i.e.,* ₹2,000 per month)	2,000	2,000	2,000
Selling Expenses (1/3 of ₹4,500 *i.e.,* ₹1,500 per month)	1,500	1,500	1,500
Administration Expenses (1/2 of ₹5,000 for April and May)	2,500	2,500	—
Total Payments (B)	52,000	52,000	49,500
Closing Balance (A – B)	13,500	40,000	70,500

जून, 2012 के लिए भुगतानों के लिए कुल 49,500₹ की आवश्यकता होगी।

टिप्पणियाँ :-

(1) अप्रैल माह का रोकड़ का प्रारम्भिक शेष नहीं दिया हुआ है अतः इसे शून्य माना गया है।

(2) नकद क्रय पर नकद छूट $= 40{,}000 \times \frac{5}{100} = 2{,}000$₹

अतः नकद क्रय के लिए भुगतान $= 40{,}000$₹ $- 2{,}000$₹ $= 38{,}000$₹

(3) देनदारों (Debtors) से वसूली की गणना :

	फरवरी	मार्च	अप्रैल	मई	जून
	₹	₹	₹	₹	₹
उधार बिक्री (कुल बिक्री का 1/2)	30,000	25,000	40,000	40,000	40,000
देनदारों से प्राप्त राशि :					
पिछले माह की उधार बिक्री का 90%		27,000	22,500	36,000	36,000
दो माह पूर्व की उधार बिक्री का 10%			3,000	2,500	4,000
कुल प्राप्ति			25,500	38,500	40,000

(4) ह्रास (Depreciation) का व्यय नकद व्यय नहीं है अतः इसे रोकड़ बजट में नहीं लिखते हैं।

ILLUSTRATION 6.

From the following particulars, prepare a Cash Budget for the half year ended on 30th June 2016 :

Months		*Total Sales*	*Material*	*Wages*	*Production Overheads*	*Selling Overheads*
		₹	₹	₹	₹	₹
Nov.	2015	50,000	26,000	6,000	7,000	1,600
Dec.	2015	44,000	32,000	8,000	7,400	2,000
Jan.	2016	60,000	35,000	12,000	8,000	2,600
Feb.	2016	70,000	36,000	16,000	8,000	3,000
March	2016	74,000	45,000	16,000	9,000	3,200
April	2016	80,000	50,000	17,600	9,000	3,000
May	2016	88,000	60,000	20,000	9,400	3,600
June	2016	1,00,000	70,000	22,000	10,000	4,000

Informations :

(*i*) Cash balance on 1st January, 2016 was ₹20,000.

(*ii*) A machinery is to be purchased in March for ₹1,80,000 payable in two half yearly instalments, the first to be paid in March.

(*iii*) A sale commission of 5% on total sales is to be paid after two months of the actual sales.

(*iv*) ₹40,000 being the amount of 1st call is expected to be received in February. Securities premium amounting to ₹10,000 is also receivable with 1st call.

(*v*)

Period of credit allowed to Customers	1 month
Period of credit allowed by Suppliers	2 months
Delay in payment of Wages	$\frac{1}{4}$ month
Delay in payment of Overheads	1 month

(*vi*) Assume cash sales to be 50% of total sales.

SOLUTION: CASH BUDGET *(For the period Jan. to June, 2016)*

Particulars	*Jan.*	*Feb.*	*March*	*April*	*May*	*June*
	₹	₹	₹	₹	₹	₹
Opening Balance	20,000	23,100	78,300	(–) 4,700	3,400	7,300
Receipts :						
Cash Sales (50%)	30,000	35,000	37,000	40,000	44,000	50,000
Received from Debtors	22,000	30,000	35,000	37,000	40,000	44,000
1st Call		40,000				
Securities Premium		10,000				
Total Receipts (A)	72,000	1,38,100	1,50,300	72,300	87,400	1,01,300
Payments :						
Material	26,000	32,000	35,000	36,000	45,000	50,000
Wages	11,000	15,000	16,000	17,200	19,400	21,500
Production Overhead	7,400	8,000	8,000	9,000	9,000	9,400
Selling Overhead	2,000	2,600	3,000	3,200	3,000	3,600
Commission on Sales	2,500	2,200	3,000	3,500	3,700	4,000
Machinery			90,000			
Total Payments (B)	48,900	59,800	1,55,000	68,900	80,100	88,500
Closing Balance (A – B)	23,100	78,300	(–) 4,700	3,400	7,300	12,800

Wages have been calculated as follows :

	Jan.	*Feb.*	*March*	*April*	*May*	*June*
	₹	₹	₹	₹	₹	₹
$\frac{1}{4}$ th of previous month	2,000	3,000	4,000	4,000	4,400	5,000
$\frac{3}{4}$ th of current month	9,000	12,000	12,000	13,200	15,000	16,500
	11,000	15,000	16,000	17,200	19,400	21,500

ILLUSTRATION 7.

Prepare a cash budget for the quarter July-September 2016, from the following particulars :

Months	*Total Sales*	*Purchases*	*Wages*	*Manufacturing Overheads*	*Selling Overheads*
	₹	₹	₹	₹	₹
June	2,00,000	80,000	30,000	—	—
July	2,80,000	1,00,000	36,000	40,000	10,000
Aug.	3,00,000	1,60,000	40,000	50,000	15,000
Sept.	4,00,000	2,40,000	50,000	60,000	20,000

Informations :

(*i*) Cash balance on 1st April 2016 was ₹23,000.

(*ii*) A new machine is to be installed for ₹1,00,000 on credit, to be repaid by two equal instalments in July and August.

(iii) A dividend of ₹20,000 is to be paid in July.

(iv) All the sales are on credit. Half of the dues is collected in the month of sale, on which a cash discount of 2% is allowed and other half is realised in the next month.

(v) Materials are purchased for cash on which a rebate of 5% is offered by the supplier.

(vi) Manufacturing overheads include quarter's depreciation of ₹12,000.

(vii) Delay in payment of wages $\frac{1}{2}$ month.

SOLUTION : CASH BUDGET *(For the quarter July-September, 2016)*

Particulars	*July*	*August*	*Sept*
	₹	₹	₹
Opening Balance	23,000	16,200	2,200
Receipts :			
Half of Current month's sales (after deducting 2%)	1,37,200	1,47,000	1,96,000
Half of previous month's sales	1,00,000	1,40,000	1,50,000
Total Receipts (A)	2,60,200	3,03,200	3,48,200
Payments :			
Payment for Machinery	50,000	50,000	
Dividend	20,000		
Purchases (after deducting 5%)	95,000	1,52,000	2,28,000
Wages	33,000	38,000	45,000
Manufacturing Overheads (after deducting depreciation of ₹4,000 per month)	36,000	46,000	56,000
Selling Overhead	10,000	15,000	20,000
Total Payments (B)	2,44,000	3,01,000	3,49,000
Closing Balance (A – B)	16,200	2,200	(–) 800

(*ii*) **समायोजित लाभ-हानि विधि** (Adjusted Profit and Loss Method) – इस विधि के अन्तर्गत पूर्वानुमानित लाभ-हानि विवरण द्वारा प्रदर्शित किए गए लाभों की राशि में समायोजन करके रोकड़ का पूर्वानुमान लगाया जाता है। पूर्वानुमानित लाभ-हानि विवरण द्वारा प्रदर्शित लाभों की राशि में सभी गैर-नकदी व्यय (जैसे ह्रास, अपलिखित स्थगित व्यय, अपलिखित अमूर्त सम्पत्तियाँ आदि), चालू सम्पत्तियों में कमी, चालू दायित्वों में वृद्धि, स्थायी सम्पत्तियों के विक्रय से प्राप्तियाँ, ऋणपत्रों व अंशों के निर्गमन की राशि तथा रोकड़ के प्रारम्भिक शेष को जोड़ा जाता है। लाभों की राशि में से चालू सम्पत्तियों में वृद्धि, चालू दायित्वों में कमी, स्थायी सम्पत्तियों के क्रय की राशि, ऋणों का भुगतान, अंशों और ऋणपत्रों के शोधन की राशि और लाभांश के भुगतान को घटाया जाता है।

अन्य शब्दों में, रोकड़ शेष की राशि को निम्नलिखित फार्मूले के प्रयोग द्वारा पूर्वानुमानित किया जा सकता है :

Opening Cash Balance + Net Profit Shown by Forecasted Statement of Profit & Loss
+ Non Cash Expenses + Decrease in Current Assets + Increase in Current Liabilities
+ Sale of Fixed Assets + Issue of Shares & Debentures etc. – Increase in Current Assets

– Decrease in Current Liabilities – Purchase of Fixed Assets
– Redemption of Shares and Debentures etc. = Closing Cash Balance.

रोकड़ बजट बनाने की यह विधि 'रोकड़ प्रवाह विवरण' से मिलती-जुलती है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि रोकड़ बजट में भविष्य की अनुमानित मदें लिखी जाती हैं जबकि रोकड़ प्रवाह विवरण में केवल वास्तविक लेन-देन ही लिखे जाते हैं।

ILLUSTRATION 8.

From the following information prepare a Cash Budget by adjusted profit & loss method :

BALANCE SHEET
as at 1st April, 2011

Particulars	*Amount*
I. EQUITY & LIABILITIES :	₹
Share Capital	1,00,000
Profit and Loss Balance	25,000
Debentures	1,00,000
Trade Payables	50,000
Outstanding Expenses	2,000
	2,77,000
II. ASSETS :	
Land and Building	80,000
Plant and Machinery	1,00,000
Furniture and Fixtures	15,000
Inventories	20,000
Trade Receivables	40,000
Cash Balance	21,500
Prepaid Expenses	500
	2,77,000

STATEMENT OF PROFIT AND LOSS
for the year ended 31st March, 2012

Particulars			*Note No.*	*Amount*
				₹
Revenue from Operations (Sales)				2,40,000
Less : Expenses :				
Purchases		2,00,000		
Change in Inventories (Opening Stock – Closing Stock) (₹20,000 – ₹40,000)		(–) 20,000		
Employee Benefit Expenses				
Salary	9,000			
Add : Outstanding	3,000	12,000		
Depreciation on :				
Plant & Machinery	10,000			

Furniture & Fixtures	1,500	11,500		
Administrative Expenses	7,800			
Less : Prepaid	600	7,200		
Selling Expenses		2,300		2,13,000
Net Profit				27,000

Shares for ₹50,000 are scheduled to be issued during the year. On 31st March, 2012, the Land & Building is expected to be ₹1,20,000; Trade Receivables ₹50,000; Prepaid Expenses ₹600; Trade Payables ₹40,000 and Outstanding Expenses ₹3,000.

SOLUTION: CASH BUDGET – (*Adjusted Profit and Loss Method*)

Particulars		*Amount* ₹	*Amount* ₹
Cash balance as on 1st April, 2011			21,500
Additions to Cash :			
Net Profit shown by the estimated Statement of Profit & Loss		27,000	
Non-Cash expenses debited in estimated Statement of Profit & Loss : Depreciation		11,500	
Decrease in Current Assets		Nil	
Increase in Current Liabilities :	Outstanding Expenses	1,000	
Sale of Fixed Assets :		Nil	
Issue of Shares scheduled during the year		50,000	89,500
			1,11,000
Deductions from Cash :			
Increase in Current Assets :	Inventories	20,000	
	Trade Receivables	10,000	
	Prepaid Expenses	100	
Decrease in Current Liabilities :	Trade Payables	10,000	
Purchase of Fixed Assets :	Land and Building	40,000	
Redemption of Debentures		Nil	80,100
Cash Balance as on 31st March, 2012			30,900

(*iii*) **स्थिति विवरण विधि** (Balance Sheet Method) – इस विधि के अन्तर्गत सम्पत्तियों तथा यित्वों (रोकड़ एवं बैंक शेष को छोड़कर) के मूल्यों में परिवर्तनों का अनुमान लगाकर आगामी अवधि अन्त का एक 'बजटीय अथवा पूर्वानुमानित स्थिति विवरण' बनाया जाता है। इसके पश्चात बजटीय ति विवरण के दोनों पक्षों का शेष ज्ञात किया जाता है। यदि बजटीय दायित्वों की राशि बजटीय सम्पत्तियों अधिक है तो अन्तर की राशि बजट अवधि के अन्त में अनुमानित रोकड़ शेष प्रदर्शित करेगी। इसके रीत, यदि बजटीय सम्पत्तियों की राशि बजटीय दायित्वों से अधिक है तो अन्तर की राशि को रोकड़ की ी अथवा बैंक अधिविकर्ष माना जाता है।

उपरोक्त वर्णित तीनों विधियों में से प्रथम विधि प्राय: रोकड़ के अल्प-कालीन पूर्वानुमानों को लगाने लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है जबकि शेष दोनों पद्धतियों का प्रयोग रोकड़ के दीर्घ-कालीन नुमानों को लगाने के लिए किया जाता है।

ILLUSTRATION 9.

Prepare a Cash Budget by Balance Sheet Method from the information given in illustration 8.

SOLUTION : Cash Budget — Balance Sheet Method

FORECAST BALANCE SHEET
as at 31st March, 2012

Particulars	*Amount*
	₹
I. EQUITY & LIABILITIES :	
Share Capital	1,50,000
Profit & Loss Balance	52,000
Debentures	1,00,000
Trade Payables	40,000
Outstanding Expenses	3,000
	3,45,000
II. ASSETS :	
Land and Building	1,20,000
Plant and Machinery	90,000
Furniture and Fixtures	13,500
Inventories	40,000
Trade Receivables	50,000
Prepaid Expenses	600
Cash Balance (Balancing Figure)	30,900
	3,45,000

(2) **रोकड़ प्रवाह विवरण** (Cash Flow Statement) – रोकड़ प्रबंध की यह एक अन्य विधि अथवा साधन (Device) है। रोकड़ प्रवाह विवरण एक ऐसा विवरण है जो एक विशेष अवधि में हुए रोकड़ के अन्तर्वाहों (प्राप्तियों) और बहिर्वाहों (भुगतानों) को प्रदर्शित करता है। अन्य शब्दों में, यह एक विशेष अवधि के दौरान रोकड़ के स्रोतों (Sources) तथा रोकड़ के उपयोगों (Applications) का सारांश है। यह दो स्थिति विवरणों की तिथियों के मध्य रोकड़ शेष में हुए परिवर्तनों के कारणों का विश्लेषण करता है।

रोकड़ प्रवाह विवरण वर्ष के अन्त में तैयार किया जाता है जबकि रोकड़ बजट प्रबंध की वर्ष भर की योजनाओं और पूर्वानुमानों के आधार पर वर्ष के आरम्भ में ही तैयार कर लिया जाता है। रोकड़ प्रवाह विवरण की रोकड़ बजट से तुलना प्रबंध को यह मालूम करने में सहायता देती है कि रोकड़ प्रवाह योजना के अनुसार रहे या नहीं। इस प्रकार की तुलना से भविष्य की योजना बनाने में भी सहायता मिलती है।

नोट : रोकड़ प्रवाह विवरण का विस्तृत अध्ययन पुस्तक में पहले ही किया जा चुका है।

(3) **रोकड़ प्रवाह अनुपात** (Cash Flow Ratios) – रोकड़ प्रवाह अनुपात रोकड़ प्रबंध का अन साधन (Device) है। रोकड़ की योजना तथा नियंत्रण के लिए विभिन्न प्रकार के रोकड़ प्रवाह अनुपातों क प्रयोग किया जाता है। कुछ महत्त्वपूर्ण रोकड़ प्रवाह अनुपात निम्नलिखित हैं :

(*i*) **रोकड़ आवर्त अनुपात** (Cash Turnover Ratio) – यह अनुपात रोकड़ प्रवाहों की गति तथ रोकड़ प्रवाहों के प्रबंध करने में प्रबंध की कुशलता का सूचक है :

$$\text{Cash Turnover Ratio} = \frac{\text{Sales per period}}{\text{Cash Balance}}$$

ऊँचा रोकड़ आवर्त अनुपात इस बात का सूचक होता है कि विक्रय के दिए गए स्तर के लिए कम रोकड़
की आवश्यकता होगी। यह इस बात को भी सूचित करता है कि रोकड़ प्रबंधकों द्वारा रोकड़ का
तापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है और ऐसी दशा में व्यवसाय में रोकड़ शेष कम मात्रा में रहता है। परन्तु
रोकड़ आवर्त अनुपात यह भी सूचित करता है कि कम रोकड़ शेष के कारण फर्म की तरलता
uidity) भी कम है।

(*ii*) **रोकड़ आवरण अनुपात** (Cash Coverage Ratio) – यह अनुपात मूलधन तथा उस पर
चुकाने की फर्म की क्षमता को सूचित करता है। इस अनुपात को फर्म की साख योग्यता (Credit
thiness) का महत्त्वपूर्ण प्रमाप माना जाता है क्योंकि मूलधन और ब्याज का भुगतान इस उद्देश्य के
रोकड़ की उपलब्धता पर निर्भर करता है।

$$\text{Cash Coverage Ratio} = \frac{\text{Annual Cash Flow Before Interest and Taxes}}{\text{Interest + Principal Payments }\left(\frac{1}{1 - \text{tax rate}}\right)}$$

Cash Flow means earnings before interest and taxes plus depreciation.

ह अनुपात जितना अधिक होगा, फर्म की साख योग्यता उतनी ही अधिक होगी क्योंकि ऐसी दशा में
ता का जोखिम उतना ही कम होगा।

USTRATION 10.

Compute Cash Coverage Ratio from the following data :

Particulars	*Year I*	*Year II*
	₹	₹
ing after interest and taxes	1,42,000	2,00,000
rate	50%	50%
est	34,000	40,000
cipal payment	70,000	80,000
eciation	30,000	30,000

UTION :

ash flow before interest and taxes :

Particulars	*Year I*	*Year II*
	₹	₹
ng after interest and taxes	1,42,000	2,00,000
Taxes	1,42,000	2,00,000
ng after interest but before taxes	2,84,000	4,00,000
Interest	34,000	40,000
ng before interest and taxes	3,18,000	4,40,000
Depreciation	30,000	30,000
Cash flow before interest and taxes	3,48,000	4,70,000

Cash Flow Coverage Ratio :

$$\text{Year I} = \frac{₹3{,}48{,}000}{₹34{,}000 + ₹70{,}000\ (\frac{1}{1-50\%})}$$

$$= \frac{₹3{,}48{,}000}{₹34{,}000 + (\ ₹70{,}000 \times \frac{100}{50})}$$

$$= \frac{₹3{,}48{,}000}{₹1{,}74{,}000} = 2 \text{ times.}$$

$$\text{Year II} = \frac{₹4{,}70{,}000}{₹40{,}000 + ₹80{,}000\ (\frac{1}{1-50\%})}$$

$$= \frac{₹4{,}70{,}000}{₹40{,}000 + (₹80{,}000 \times \frac{100}{50})}$$

$$= \frac{₹4{,}70{,}000}{₹2{,}00{,}000} = 2.35 \text{ times.}$$

दूसरे वर्ष का रोकड़ आवरण अनुपात पहले वर्ष की अपेक्षा अधिक है। अतः दूसरे वर्ष में फर्म की साख योग्यता अधिक है।

(*iii*) **रोकड़ का औसत दैनिक क्रय से अनुपात** (Cash to Average Daily Purchase Ratio) – यह अनुपात व्यवसाय की तरलता को सूचित करता है तथा क्रय की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोकड़ शेष के निर्धारण में सहायक है।

$$\text{Cash to Average Daily Purchase Ratio} = \frac{\text{Cash Balance}}{\text{Average Daily Purchases}}$$

$$\text{Average Daily Purchases} = \frac{\text{Purchases During the Period}}{\text{Days During the Period}}$$

यदि रोकड़ का औसत दैनिक क्रय से अनुपात ऊँचा है और व्यवसाय के चालू अनुपात तथा तरल अनुपात भी ऊँचे हैं तो इसका अर्थ है कि व्यवसाय की तरलता (Liquidity) की स्थिति सुदृढ़ है।

ILLUSTRATION 11.

Compute the Cash to Average Daily Purchase Ratio of a firm from the following data :

	Year I	*Year II*
	₹	₹
Purchases during the year	63,00,000	72,00,000
Cash	52,500	65,000

Assume 360 days in a year.

SOLUTION :

		Year I	Year II
Average Daily Purchases	=	$\frac{₹63,00,000}{360 \text{ days}}$	$\frac{₹72,00,000}{360 \text{ days}}$
	=	₹17,500	₹20,000
Cash to Average Daily Purchase Ratio	=	$\frac{₹52,500}{₹17,500}$	$\frac{₹65,000}{₹20,000}$
	=	3 days	3.25 days

प्रथम वर्ष का रोकड़ शेष 3 दिनों की और द्वितीय वर्ष का रोकड़ शेष 3.25 दिनों की क्रय की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। अतः द्वितीय वर्ष में तरलता की स्थिति अच्छी है।

(*iv*) **दिनों के लिए उपलब्ध रोकड़** (Days of Cash Available) – यह अनुपात भी व्यवसाय की तरलता को प्रदर्शित करता है। यह अनुपात दिनों की वह संख्या सूचित करता है जिनके लिए पर्याप्त रोकड़ उपलब्ध है।

$$\text{Days of Cash Available} = \frac{\text{Average Cash Balance}}{\text{Average Daily Outflows}}$$

ILLUSTRATION 12.

Determine the days of Cash available from the following data :

	₹
Cash Balance on 1st April	70,000
Cash Balance on 30th April	80,000
Cash Outflows during April	4,50,000

SOLUTION :

$$\text{Average Cash Balance} = \frac{\text{Opening Cash} + \text{Closing Cash}}{2}$$

$$= \frac{₹70,000 + ₹80,000}{2} = ₹75,000$$

$$\text{Average Daily Cash Outflows} = \frac{₹4,50,000}{30 \text{ days}} = ₹15,000$$

$$\text{Days of Cash Available} = \frac{\text{Average Cash Balance}}{\text{Average Daily Outflows}}$$

$$= \frac{₹75,000}{₹15,000} = 5 \text{ Days}$$

यह सूचित करता है कि 5 दिनों की रोकड़ भुगतान की आवश्यकताओं के लिए रोकड़ शेष पर्याप्त है।

(*v*) **रोकड़ सीमा-स्तर बिन्दु** (Cash Break-even Point) – यह अनुपात उत्पादन के उस स्तर को प्रकट करता है जिस पर फर्म अपने सभी नकद व्ययों का भुगतान कर सकती है। रोकड़ सीमा-स्तर बिन्दु पर उत्पादन की दशा में रोकड़ की सभी प्राप्तियाँ रोकड़ के सभी भुगतानों के बराबर होती हैं।

$$\text{Cash Break-even Point} = \frac{\text{Cash Fixed Costs}}{\text{Contribution Per Unit}}$$

Contribution Per Unit = Selling Price Per Unit – Variable Cost Per Unit

रोकड़ सीमा-स्तर बिन्दु जितना कम होगा उतना ही अच्छा रहता है। सीमा-स्तर बिन्दु का कम होना सूचित करता है कि उत्पादन स्तर कम होने परं भी फर्म अपने सभी रोकड़ भुगतान कर सकती है।

ILLUSTRATION 13.

From the following data, compute Break-even Point on the Cash Cost basis and Total Cost basis :

	₹
Cash Fixed Operating Costs	80,000
Depreciation	20,000
Sale Price Per Unit	10
Variable Cost Per Unit	6

SOLUTION :

$$\text{Break-even Point on Cash Cost basis} = \frac{\text{Cash Fixed Costs}}{\text{Contribution Per Unit}}$$

$$= \frac{₹80{,}000}{₹10 - ₹6}$$

$$= \frac{₹80{,}000}{₹4} = 20{,}000 \text{ Units}$$

$$\text{Break-even Point on Total Cost basis} = \frac{\text{Total Fixed Costs}}{\text{Contribution Per Unit}}$$

$$= \frac{₹80{,}000 + ₹20{,}000}{₹10 - ₹6}$$

$$= \frac{₹1{,}00{,}000}{₹4} = 25{,}000 \text{ Units}$$

(4) **रोकड़ प्रबंध मॉडल** (Cash Management Model) – रोकड़ प्रबंध मॉडल, रोकड़ प्रबंध का एक अन्य साधन (Device) है जिसका प्रयोग अनुकूलतम रोकड़ शेष निर्धारित करने के लिए किया जाता है। जैसा कि पहले अध्ययन किया गया है, अनुकूलतम रोकड़ शेष का निर्धारण तरलता तथा लाभप्रदता में संतुलन स्थापित करके किया जाता है। उच्च तरलता अथवा उच्च रोकड़ शेष का अर्थ है व्यवसाय में अत्यधिक रोकड़ शेष रखना जिसके कारण इस अत्यधिक शेष को विपणन योग्य प्रतिभूतियों में विनियोग करने से जो ब्याज अर्जित किया जा सकता था उसकी हानि होती है। ब्याज की ऐसी हानि को रोकड़ शेष रखने की अवसर लागत (Opportunity Cost) अथवा रोकड़ शेष रखने की लागत (Carrying Cost) कहा जाता है। इसके विपरीत, निम्न तरलता अथवा निम्न रोकड़ शेष का अर्थ है व्यवसाय में कोई भी व्यर्थ रोकड़ न रखना और व्यवसाय की फालतू रोकड़ को प्रतिभूतियों में विनियोजित करके ब्याज अर्जित किया जा रहा है। परन्तु इस दशा में भी कुछ अतिरिक्त लागतें करनी पड़ती हैं जैसे कि प्रतिभूतियों को रोकड़ में परिवर्तित करने की दलाली, प्रतिभूतियों की लेखाँकन लागत, प्रतिभूतियों की रजिस्ट्रेशन लागत इत्यादि। इन लागतों को व्यवहार लागतें (Transaction Costs) कहा जाता है।

अत: व्यवसाय में रोकड़ शेष रखने के संबंध में दो प्रकार की लागतें होती हैं – अवसर लागत

(Opportunity Cost) तथा व्यवहार लागत (Transaction Cost)। जब रोकड़ शेष में वृद्धि होती है तो अवसर लागत में भी वृद्धि होती है परन्तु व्यवहार लागत घटती है। इसके विपरीत, जब रोकड़ शेष में कमी हो जाती है तो अवसर लागत में भी कमी हो जाती है परन्तु व्यवहार लागत बढ़ जाती है। अनुकूलतम रोकड़ शेष, रोकड़ का वह स्तर है जिस पर अवसर लागत तथा व्यवहार लागत समान हो जाती हैं। अन्य शब्दों में, रोकड़ शेष रखने की लागत तभी न्यूनतम होगी जब लागत के दोनों तत्त्व अर्थात अवसर लागत और व्यवहार लागत समान हों। रोकड़ के ऐसे स्तर को अनुकूलतम रोकड़ शेष कहा जाता है।

रोकड़ प्रबंध मॉडल अथवा बोमल मॉडल (Baumol's Model) रोकड़ के अनुकूलतम शेष को निर्धारित करने में सहायता करता है। यह मॉडल निम्नलिखित फार्मूले के रूप में है :

$$C = \sqrt{\frac{2U \times P}{S}}$$

where C = Optimum Cash Balance

U = Cash disbursement of a year (or month)

P = Fixed cost per transaction

S = Opportunity cost of one rupee p.a. (or per month)

ILLUSTRATION 14.

Monthly cash requirements according to cash budget	₹50,000
Fixed Cost per transaction	₹ 10
Interest rate 12% p.a.	

Calculate optimum cash balance.

OLUTION :

$$C = \sqrt{\frac{2 \times \text{₹}50,000 \times \text{₹}10}{.01}} = \text{₹}10,000$$

Therefore, optimum cash balance = ₹10,000

आधिक्य रोकड़ को विनियोजित करना – अनुकूलतम रोकड़ शेष के निर्धारण के पश्चात यदि स्तविक रोकड़ शेष इससे अधिक है तो आधिक्य रोकड़ को विपणन योग्य प्रतिभूतियों में विनियोजित कर या जाता है। यदि वास्तविक रोकड़ शेष स्थायी रूप से अनुकूलतम रोकड़ शेष से अधिक रहने की भावना है तो आधिक्य को दीर्घकालीन सम्पत्तियों में विनियोजित किया जा सकता है। जोखिम और तभूतियों पर प्राप्य ब्याज दर को ध्यान में रखते हुए आधिक्य रोकड़ को विनियोजित करना भी रोकड़ प्रबंध कार्य है।

) Miller-Orr Model :

इस मॉडल को Stochastic Model भी कहा जाता है। बोमल मॉडल की प्रमुख सीमा यह है कि इस डल में यह मान्यता की गई है कि रोकड़ शेष एक जैसे तथा निश्चित स्तर पर रहते हैं। इस मॉडल के सार रोकड़ प्रवाहों में उतार-चढ़ाव नहीं होता है जबकि वास्तव व्यवहार में फर्म अपने रोकड़ अन्तर्वाहों र बहिर्वाहों का निश्चितता से अनुमान नहीं लगा पाती हैं। अत: जहाँ रोकड़ प्रवाहों में अनिश्चितता बहुत धक है और रोकड़ शेषों में अचानक उतार-चढ़ाव होता रहता है वहाँ बोमल मॉडल को प्रयोग में नहीं लाया सकता है।

Miller-Orr Model इस कमी को पूरा करता है और फर्म के रोकड़ शेषों में अनियमित उतार-चढ़ावों की व्यवस्था करता है। इस मॉडल की दो मान्यताएँ हैं :

(i) रोकड़ का बाजार-योग्य प्रतिभूतियों में परिवर्तन और बाजार-योग्य प्रतिभूतियों का रोकड़ में परिवर्तन तुरन्त ही किया जा सकता है। यद्यपि, फर्म को इसमें कुछ परिवर्तन लागत खर्च करनी पड़ती हैं।

(ii) बाजार-योग्य प्रतिभूतियों से कुछ प्रत्याय (Return) भी प्राप्त होती है जो मुख्यतः ब्याज के रूप में होती है।

Miller-Orr Model रोकड़ शेष के लिए दो नियन्त्रण सीमाएँ निर्धारित करता है-एक Upper Control Limit (H) तथा दूसरी Lower Control Limit (L)। रोकड़ शेष को Upper Limit से अधिक नहीं बढ़ने दिया जाता है तथा Lower Limit से नीचे नहीं गिरने दिया जाता है। यदि फर्म का रोकड़ शेष Upper Limit पर पहुँच जाता है तो इसका अर्थ है कि फर्म के पास आधिक्य रोकड़ है और इसे उतनी मात्रा में विक्रय-योग्य प्रतिभूतियाँ क्रय करनी चाहिए कि रोकड़ शेष वापिस एक पूर्व निर्धारित स्तर तक आ जाए जिसे Return Level (R) कहा जाता है। इसी प्रकार, यदि फर्म का रोकड़ शेष Lower Limit पर पहुँच जाता है तो उसे इतनी मात्रा में विक्रय-योग्य प्रतिभूतियों का विक्रय करना चाहिए कि रोकड़ शेष पुनः Return Level (R) पर वापिस आ जाए। जब तक रोकड़ शेष Upper Limit तथा Lower Limit के बीच रहता है तब तक रोकड़ एवं विक्रय-योग्य प्रतिभूतियों के मध्य कोई भी लेन-देन (Transaction) नहीं किया जाता है।

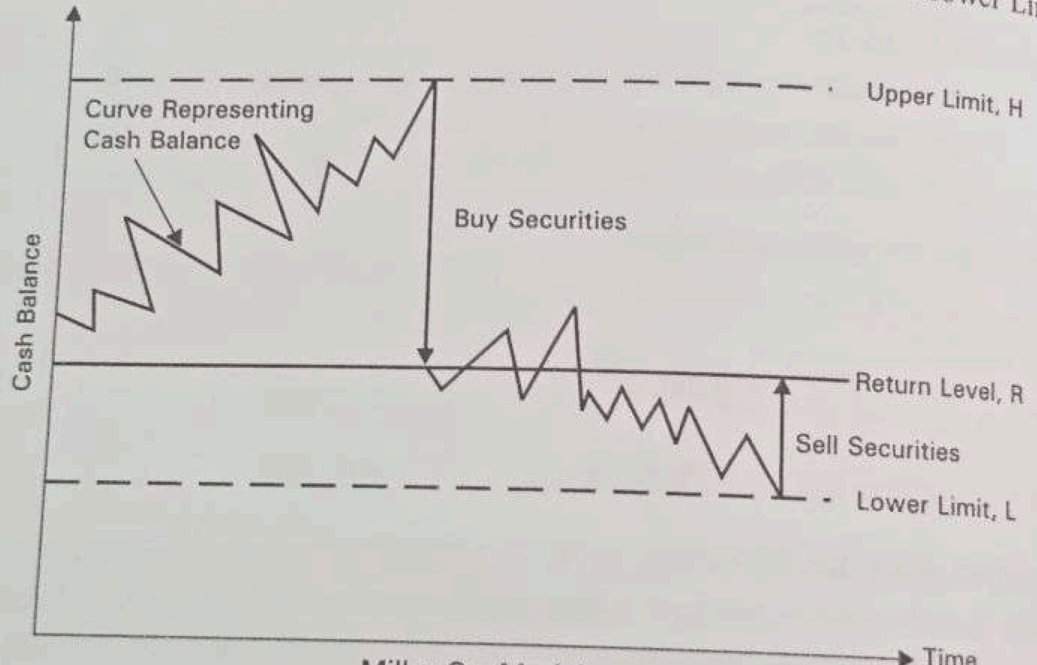

Miller-Orr Model

इस मॉडल में निम्नलिखित Steps लेने होते हैं :

(1) **निम्नतम नियन्त्रण स्तर निर्धारित करना** (Specifying Lower Control Limit) : इसके अन्तर्गत फर्म को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार रोकड़ का एक निम्नतम स्तर निर्धारित करना होता है।

(2) **रोकड़ प्रवाहों में परिवर्तन का अनुमान लगाना** (Estimating the Variability in Cash Flows) : फर्म को अपने विगत अनुभव के आधार पर भविष्य के रोकड़ प्रवाहों में उतार-चढ़ाव का पूर्वानुमान लगाना होता है।

(3) **निम्नतम स्तर तथा उच्चतम स्तर के बीच अन्तर की गणना करना**

(Computing the Spread or Distance between Lower and Upper Limit) : न्यूनतम और उच्चतम स्तर के बीच अन्तर (Spread) की गणना Miller-Orr Model के आधार पर की जाती है और यह वह राशि है जो लेन-देन लागत (Transaction Cost) तथा ब्याज लागत के जोड़ को न्यूनतम करती है।

अन्तर (Spread) की इस राशि को Lower Cash Limit में जोड़कर Upper Cash Limit ज्ञात की जाती है।

अन्तर की राशि (Spread) (Called Z) को Miller-Orr Model की सहायता से निम्न प्रकार ज्ञात किया जा सकता है :

$$Z = \sqrt{\frac{3\,TV}{4\,i}}$$

$$\text{Or } Z = [3\,TV/4\,i]^{1/3}$$

Where, T = Transaction Cost of Conversion
V = Variance of Daily Cash Flows
i = Daily % interest rate on marketable securities

Miller-Orr Model के अनुसार Upper Limit (H) को Return Limit Level के तीन गुने पर निर्धारित किया जाता है।

Miller-Orr Model वास्तविकता के अधिक समीप है और यह बोमल मॉडल से इस रूप में श्रेष्ठ है क्योंकि यह रोकड़ प्रवाहों के Lower तथा Upper Limit के मध्य अनिश्चित उतार-चढ़ावों का प्रावधान करता है। यह मॉडल रोकड़ प्रबन्ध के विषय में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर देता है :

(i) विक्रय-योग्य प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कब किया जाना चाहिए?
(ii) विक्रय-योग्य प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय की राशि कितनी होनी चाहिए?

रोकड़ प्रवाह का प्रबंध करना
(Managing the Cash Flows)

रोकड़ प्रबंध शब्द में रोकड़ का शीघ्र संग्रह तथा कुशल भुगतान भी सम्मिलित है। यदि रोकड़ को तीव्रता से संग्रह किया जाए और दायित्वों का सही समय पर भुगतान किया जाए तो व्यवसाय में अनुकूलतम रोकड़ शेष की आवश्यकता में भी कमी आती है। रोकड़ प्रवाहों के प्रबंध करने के कार्य में निम्नलिखित दो चरण सम्मिलित हैं :

(अ) रोकड़ संग्रह की गति को तीव्र करना (Accelerating Cash Collections)

(ब) रोकड़ भुगतानों की गति को मन्द करना (Slowing Disbursements)

(अ) **रोकड़ संग्रह की गति को तीव्र करना** (Accelerating Cash Collections) – ग्राहकों ो जितना संभव हो सके उतना शीघ्र भुगतान करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए एवं उनके ुगतानों को बिना किसी देरी के रोकड़ में परिवर्तित किया जाना चाहिए। ग्राहकों को शीघ्र भुगतान करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए कुछ तकनीकों का प्रयोग किया जा सकता है जैसे कि शीघ्र बिल बनाना, शीघ्र ुगतान करने पर नकद छूट देना, विक्रय बिल के साथ फर्म के पते वाला वापिसी लिफाफा भेजना जिसमें ाहक चैक अथवा ड्राफ्ट भेज सकें, इत्यादि। यदि ग्राहक चैक या ड्राफ्ट के द्वारा भुगतान करता है तो चैक ा ड्राफ्ट को शीघ्रतापूर्वक नकदी में परिवर्तित कराना चाहिए। चैकों अथवा ड्राफ्टों को शीघ्रतापूर्वक नकदी ं परिवर्तित करने के लिए :

(*i*) ग्राहक द्वारा डाक से चैक या ड्राफ्ट भेजने और फर्म द्वारा इसे प्राप्त करने के बीच लगने वाले समयान्तर (Time Gap) में कमी की जानी चाहिए।

(*ii*) फर्म द्वारा चैक या ड्राफ्ट प्राप्त करने और फर्म में इसे रिकार्ड करके बैंक में जमा कराने के बीच लगने वाले समयान्तर में कमी की जानी चाहिए।

(*iii*) बैंक द्वारा चैक या ड्राफ्ट को संग्रह के लिए भेजने और ग्राहक के बैंक द्वारा इसका वास्तविक भुगतान करने के बीच लगने वाले समयान्तर में कमी की जानी चाहिए।

रोकड़ प्रबंध का मुख्य उद्देश्य इन समयान्तरों को जितना सम्भव हो सके उतना कम करना है। समयान्तरों को कम करने की निम्नलिखित विधियाँ हैं :

(1) **संग्रहण केन्द्रों की स्थापना** (Establishment of Collection Centres or Concentration Banking) – इस विधि के अन्तर्गत, ऐसी बड़ी-बड़ी फर्में जिनकी विभिन्न स्थानों पर काफी संख्या में शाखाएँ होती हैं, ग्राहकों से भुगतान प्राप्त करने के लिए इन शाखाओं में से कुछ शाखाओं का चुनाव कर लेती हैं। इन शाखाओं को संग्रह केन्द्र (Collection Centre) कहा जाता है। फर्म विभिन्न संग्रह केन्द्रों के स्थानीय बैंकों में अपने खाते भी खोलती है। ग्राहकों को निर्देश दिए जाते हैं कि वे अपने चैक अपने नजदीक के संग्रह केन्द्र को ही भेजें। संग्रह केन्द्र इन चैकों को स्थानीय बैंक में फर्म के खाते में जमा करा देते हैं। एक पूर्व निर्धारित सीमा के ऊपर की संग्रह राशियों को प्रतिदिन उस बैंक में हस्तांतरित कर दिया जाता है जहाँ मुख्य कार्यालय है। मुख्य कार्यालय इन कोषों को भुगतानों के लिए प्रयोग कर सकता है।

यह विधि ग्राहक द्वारा डाक से चैक या ड्राफ्ट भेजने और संग्रह केन्द्र द्वारा इसे प्राप्त करने के बीच समय मध्यान्तर को कम करती है। इससे इन चैकों के संग्रह में लगने वाले समय में भी कमी हो जाती है क्योंकि संग्रह केन्द्रों द्वारा प्राप्त किए गए चैक प्राय: स्थानीय बैंकों पर ही लिखे गए होते हैं।

(2) **लॉक बॉक्स व्यवस्था** (Lock Box System) – इस विधि में भी ग्राहकों के भुगतान प्राप्त करने के लिए बड़ी-बड़ी फर्में अपनी कुछ शाखाओं का चुनाव संग्रह केन्द्र के रूप में कर लेती हैं और संग्रह केन्द्रों के स्थानीय बैंकों में अपने खाते भी खोल लेती हैं। इस विधि में फर्म महत्त्वपूर्ण संग्रह केन्द्रों पर डाकघर से लॉक बॉक्स किराये पर ले लेती हैं। ग्राहकों को निर्देश दे दिए जाते हैं कि वे अपने चैक या ड्राफ्ट डाकघर के लॉक बॉक्स में भेज दें। फर्म के स्थानीय बैंकों को डाकघर के लॉक बॉक्स खोलने और ग्राहकों से प्राप्त चैकों को संग्रह करने का अधिकार दे दिया जाता है। स्थानीय बैंक लॉक बॉक्स में से दिन में कई बार चैक निकालते हैं और इन्हें फर्म के खाते में जमा कर देते हैं। इसके पश्चात स्थानीय बैंक संग्रह केन्द्र को जमा की रसीद तथा ग्राहकों से प्राप्त भुगतानों की सूची भेज देते हैं जिसके आधार पर संग्रह केन्द्र सभी प्राप्तियों का अपनी पुस्तकों में लेखा कर लेता है।

यह विधि प्रथम विधि से अच्छी मानी जाती है क्योंकि प्रथम विधि में चैकों और ड्राफ्टों को संग्रह केन्द्रों पर लेखा करने के बाद ही स्थानीय बैंकों में जमा के लिए भेजा जाता है परन्तु लॉक बॉक्स व्यवस्था में चैकों और ड्राफ्टों को पहले स्थानीय बैंकों द्वारा संग्रह किया जाता है और इसके बाद स्थानीय बैंकों से प्राप्त भुगतानों की सूची के आधार पर संग्रह केन्द्रों द्वारा लेखा किया जाता है। अत: इस विधि में तीनों समय मध्यान्तर कम हो जाते हैं।

परन्तु इस विधि के अन्तर्गत फर्म को डाकघर से लॉक बॉक्स किराए पर लेने का अतिरिक्त व्यय वहन करना पड़ता है। अत: इस विधि को लागत तथा लाभ का विश्लेषण करने के पश्चात ही अपनाना चाहिए।

(ब) **रोकड़ भुगतानों की गति को मन्द करना** (Slowing Disbursements) – फर्म की ्याति तथा साख योग्यता (Credit Rating) को ठेस पहुँचाये बिना, भुगतानों को जितना भी सम्भव हो सके री से करना चाहिए। परन्तु फर्म को शीघ्र भुगतान करके नकद छूट प्राप्त करने का लाभ भी उठाना चाहिए। कड़ भुगतानों को मन्द करने की निम्न तकनीकें हैं :

(1) **जल्दी भुगतानों से बचना** (Avoidance of Early Payments) – भुगतानों को मन्द करने की एक विधि जल्दी भुगतान न करना है। फर्म को भुगतान केवल देय तिथि पर ही करना चाहिए। भुगतान न तो देय तिथि से पूर्व करना चाहिए और न ही देय तिथि के पश्चात। देय तिथि से पूर्व भुगतान करने का कोई विशेष लाभ नहीं होता और देय तिथि के पश्चात भुगतान करने से फर्म की साख योग्यता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और फर्म को भविष्य में उधार लेने में कठिनाई आ सकती है।

(2) **केन्द्रित भुगतान** (Centralised Disbursements) – भुगतानों को मन्द करने की एक अन्य विधि समस्त भुगतानों को मुख्य कार्यालय के केन्द्रित खाते से करना है। इस विधि से मुख्य कार्यालय द्वारा भुगतान भेजने और लेनदार को प्राप्त होने के बीच समयान्तर (Time Gap) में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, यदि भुगतान स्थानीय शाखाओं द्वारा ही भेजे जाते हैं तो इन्हें डाक द्वारा लेनदारों के पास पहुँचने में कम समय लगेगा। केन्द्रित भुगतान विधि का एक अन्य लाभ यह भी है कि फर्म को केन्द्रित बैंक में कम रोकड़ शेष रखना पड़ेगा बजाय विकेन्द्रित विधि के जिसमें कि प्रत्येक शाखा को कुछ रोकड़ शेष रखना पड़ता है।

(3) **फ्लोट** (Float) – भुगतानों की गति को मन्द करने की एक महत्त्वपूर्ण विधि फ्लोट है। फ्लोट से आशय उस राशि से है जो ऐसे चैकों में फँसी हुई है जो लेनदारों को निर्गमित किए गए हैं परन्तु जो अभी तक भुगतान के लिए बैंक में प्रस्तुत नहीं किए गए हैं। फर्म द्वारा चैक निर्गमित करने तथा लेनदार के बैंक द्वारा इसे भुगतान के लिए प्रस्तुत करने के बीच हमेशा ही कुछ समयान्तर होता है जिसका कारण मार्ग में लगने वाली देरी तथा लेनदार द्वारा चैक को बैंक में जमा कराने की प्रक्रिया में लगने वाली देरी है। अत: चैक निर्गमित करते समय बैंक में पर्याप्त शेष न होने पर भी फर्म अपने लेनदारों को चैक भेज सकती है। तदुपरान्त जब कुछ दिनों बाद चैकों को भुगतान के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो उस समय कोषों का प्रबंध किया जा सकता है। फ्लोट का प्रयोग करने के उद्देश्य से फर्म ऐसे बैंकों के चैक निर्गमित कर सकती है जो लेनदार के बैंकों से काफी दूर हों। फ्लोट का लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि चैक निर्गमित करने तथा इनके बैंक में भुगतान के लिए प्रस्तुत करने के बीच समयान्तर का विश्लेषण किया जाए। उदाहरण के लिए, यदि किसी विशेष लेनदार को निर्गमित किया गया चैक प्राय: 20 दिन बाद भुगतान के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो फर्म को उस लेनदार को चैक निर्गमित करने के प्रथम दिन ही अपने बैंक खाते में उतना बैंक शेष रखने की आवश्यकता नहीं है।

(4) **उपार्जन** (Accruals) – भुगतान की गति को मन्द करने की एक अन्य विधि उपार्जन है। कुछ विशेष प्रकार के व्ययों जैसे कि मजदूरी, किराए आदि का भुगतान उस अवधि के पश्चात किया जाए जिसमें सेवाएँ प्रदान की गई हैं।

विक्रय योग्य प्रतिभूतियाँ

(Marketable Securities)

नकदी एवं विक्रय योग्य प्रतिभूतियों के बीच एक गहरा संबंध है। वास्तव में, यह दोनों एक ही सिक्के दो पहलू हैं। विक्रय योग्य प्रतिभूतियाँ वह प्रपत्र हैं जिन्हें अल्प अवधि में ही अर्थात् कुछ ही दिनों में नकदी परिवर्तित किया जा सकता है। एक फर्म को एक न्यूनतम स्तर पर नकदी अपने पास रखनी चाहिए और वश्यकता पड़ने पर शेष नकदी को विक्रय योग्य प्रतिभूतियों के विक्रय द्वारा प्राप्त करना चाहिए। वर्तमान आवश्यकताओं से अधिक नकदी को विक्रय योग्य प्रतिभूतियों में विनियोग किया जा सकता है क्योंकि से कुछ प्रत्याय (Return) भी प्राप्त होती है और जब भी आवश्यकता हो इसे बिना समय की हानि किए आसानी से नकदी में परिवर्तित किया जा सकता है। विक्रय योग्य प्रतिभूतियों को नकद तुल्य (Cash uivalent) ही माना जा सकता है।

विनियोग अवसरों का चुनाव (Selecting Investment Opportunities) :

मुद्रा बाजार में अनेक प्रकार की विक्रय योग्य प्रतिभूतियाँ उपलब्ध होती हैं। विक्रय योग्य प्रतिभूतियों का चुनाव करते समय बहुत से तत्त्वों का ध्यान रखना चाहिए। इनमें से प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं :

(i) **परिपक्वता** (Maturity) : समय अवधि अर्थात् जितनी अवधि के लिए फर्म के पास फालतू नकदी उपलब्ध है उस अवधि का मिलान विक्रय योग्य प्रतिभूतियों की परिपक्वता अवधि से करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि फर्म के पास 30 दिन के लिए फालतू नकदी उपलब्ध है तो इसे ऐसी विक्रय योग्य प्रतिभूतियों में विनियोजित करना चाहिए जिनकी परिपक्वता अवधि 30 दिन से कम है। यदि फर्म इस फालतू नकदी को ऐसी विक्रय योग्य प्रतिभूतियों में विनियोजित करती है जिनकी परिपक्वता अवधि 30 दिन से अधिक है तो फर्म को जरूरत के समय धन उपलब्ध न होने का जोखिम उठाना पड़ेगा।

(ii) **तरलता तथा विपणन-योग्यता** (Liquidity and Marketability) : तरलता से आशय किसी प्रतिभूति को नकदी में परिवर्तित करने की योग्यता से है। यद्यपि विक्रय योग्य प्रतिभूतियाँ स्वभाव से ही विपणन योग्य होती हैं फिर यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन प्रतिभूतियों का चुनाव किया गया है वह सुविधा से तथा शीघ्रता से नकदी में परिवर्तित होने योग्य हों। विपणन योग्यता एक महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि कई बार प्रतिभूति की देय तिथि (Maturity Date) से पहले ही नकदी की आवश्यकता पड़ सकती है। तरलता विभन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में भिन्न-भिन्न हो सकती है। यदि किसी प्रतिभूति को शीघ्रता से, बिना इसकी मूल्य हानि के, बेचा जा सकता है तो यह अत्यधिक तरल (Highly Liquid) अथवा विपणन योग्य मानी जाएगी। सरकारी ट्रेजरी बिल इस श्रेणी में आते हैं। यदि प्रतिभूति को बिना मूल्य हानि के बेचने में समय लगेगा तो इसे गैर-तरल माना जाएगा।

(iii) **त्रुटि या अदायगी का जोखिम** (Default Risk) : एक फर्म को उन्हीं प्रतिभूतियों का चुनाव करना चाहिए जिनमें समय पर ब्याज अथवा मूलधन की अदायगी का जोखिम नहीं है। अदायगी जोखिम के अवसरों को कम करने के लिए फर्म को सुरक्षित प्रतिभूतियों में विनियोग करना चाहिए। उच्च जोखिम वाली प्रतिभूतियों में उच्च प्रत्याय दर (High Return) होती है और कम जोखिम वाली प्रतिभूतियों में कम प्रत्याय दर होती है। वित्तीय प्रबंधक को कम जोखिम वाली प्रतिभूतियों में विनियोग करना चाहिए और सुरक्षा के लिए अधिक प्रत्याय का त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

विक्रय योग्य प्रतिभूतियों के प्रकार (Types of Marketable Securities) :

मुद्रा बाजार में बहुत से प्रकार की विक्रय योग्य प्रतिभूतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

(i) **ट्रेजरी बिल** (Treasury Bills) : ट्रेजरी बिल अथवा T-Bills वह विपत्र होते हैं जिन्हें रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया निर्गमित करता है। इन्हें कटौती पर बेचा जाता है और इन विपत्रों पर कोई ब्याज देय नहीं होता है। इनके क्रय मूल्य और अंकित मूल्य का अन्तर ही प्रत्याय (Return) होती है। T-Bills को केवल वाहक प्रारूप (Bearer Form) में ही निर्गमित किया जाता है अत: इनके ऊपर बिना नियोजक के नाम के ही इन्हें क्रय किया जाता है। इस विशेषता के कारण यह आसानी से एक विनियोजक से दूसरे विनियोजक को हस्तांतरण योग्य होते हैं। यह विपत्र अत्यधिक तरल एवं असानी से विपणन योग्य होते हैं। बिना जोखिम के (Risk-free) तथा अत्यधिक तरलता होने के कारण इनमें कम प्रत्याय होने के बावजूद भी यह अति लोकप्रिय विपणन योग्य प्रतिभूतियाँ हैं।

(ii) **व्यापारिक प्रपत्र** (Commercial Papers or CPs) : यह अल्प अवधि के असुरक्षित प्रतिज्ञा पत्र हैं जो कि ऊँची साख वाली बड़ी कम्पनियों द्वारा निर्गमित किए जाते हैं। इन्हें तीन माह से 1

वर्ष तक की अवधि के लिए निर्गमित किया जाता है। इन प्रपत्रों को प्राय: कटौती आधार पर एवं वाहक प्रारूप में बेचा जाता है। व्यापारिक प्रपत्रों में विपणन योग्यता (तरलता) की कमी होती है यद्यपि निर्गमन करने वाली कम्पनी प्रार्थना करने पर इन्हें वापिस क्रय (Buy-back) कर लेती है। अत: यदि एक वित्तीय प्रबन्धक इन्हें क्रय करता है तो उसे इन प्रपत्रों को इनकी परिपक्वता तिथि तक रखने की योजना बनाए रखनी चाहिए। विपणन योग्यता की कमी के कारण व्यापारिक प्रपत्र इतनी ही अवधि की अन्य अल्प अवधि प्रतिभूतियों की तुलना में अधिक प्रत्याय प्रदान करते हैं।

(iii) **जमा के सर्टिफिकेट** (Certificate of Deposits) : जमा के सर्टिफिकेट (CD's) वह प्रपत्र हैं जो बैंक द्वारा उनके पास निश्चित अवधि की जमा के प्रमाण के रूप में जारी किए जाते हैं। CDs विनिमय साध्य प्रपत्र (Negotiable Instruments) हैं जिसके कारण यह विपणन योग्य प्रतिभूतियाँ कहलाते हैं। CD's ट्रेजरी बिल से भिन्न होती हैं क्योंकि इनका निर्गमन कटौती पर नहीं किया जाता है और जब CD's परिपक्व होती हैं तो इनके स्वामी को पूरी जमा राशि ब्याज सहित वापिस प्राप्त होती है। CD's अत्यधिक तरल होती हैं और इनके लिए बहुत ही कार्यशील माध्यमिक बाजार (Secondary market) हमेशा ही उपलब्ध रहता है।

(iv) **बैंक जमा** (Bank Deposits) : प्रत्येक व्यापारिक बैंक विभिन्न अवधियों की अल्पकालीन जमा योजनाएँ विभिन्न ब्याज दरों पर पेश करता है। एक फर्म जिसके पास फालतू नकदी है वह केवल कुछ दिनों के लिए भी बैंक में राशि जमा करा सकती है। बैंक निश्चित समय से पूर्व भुगतान की सुविधा भी प्रदान करते हैं। बैंक डिपाजिट पूर्ण तरलता, सुरक्षा तथा उचित प्रत्याय प्रदान करते हैं।

(v) **अन्तः कॉरपोरेट जमा** (Inter-Corporate Deposits) : एक फर्म जिसके पास फालतू नकदी है वह अन्य कॉरपोरेट फर्मों के पास अल्प-कालीन जमा भी करा सकती है। इस प्रकार के अन्त: कॉरपोरेट जमाओं पर ब्याज की दर काफी आकर्षक होती है और वर्तमान में यह 15% से 18% वार्षिक के मध्य है। परन्तु इस प्रकार के डिपाजिटों में अत्यधिक जोखिम होता है और प्राय: इनसे नकदी वापिस लेने में एक माह का समय लग जाता है।

(vi) **बिलों की कटौती** (Bill Discounting) : एक फर्म जिसके पास फालतू नकदी है वह व्यापारिक बैंकों की तरह ही दूसरी फर्मों के विनिमय पत्रों को क्रय कर सकती है अथवा कटौती कर सकती है। विपत्र के देय होने पर फर्म को धन वापिस प्राप्त हो जाता है। बिल कटौती में धन लगाने से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे विपत्र व्यापारिक विपत्र (Trade Bills) होने चाहिएं जो कि वास्तविक व्यापारिक सौदों के कारण उत्पन्न हुए हैं। परन्तु बिल कटौती दो प्रतिबन्धों स ग्रस्त है : (i) कोषों की सुरक्षा विपत्र के स्वीकर्ता (Acceptor of the bill) की साख (Credi rating) पर निर्भर करती है, तथा (ii) विपत्र से समय से पूर्व धन प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

(vii) **मुद्रा बाजार म्यूच्यूअल फन्ड** (Money Market Mutual Funds) : यह फन्ड अल्पकाली बाजार योग्य प्रतिभूतियों में व्यापार करते हैं जैसे T-Bills, CPs and CDs आदि। इनका ए न्यूनतम 30 दिन का lock-in-period होता है और इस अवधि के पश्चात् कोई विनियोक्ता अल्प अवधि का नोटिस देकर अपना धन कभी भी वापिस प्राप्त कर सकता है। इन फन्डों आकर्षक ब्याज दिया जाता है जो कि इतनी ही अवधि की बैंक जमाओं से प्राय: 2% अधिक है। तुरन्त तरलता और अच्छे ब्याज प्राप्त होने के कारण इन फन्डों ने वर्तमान में भारतव महत्वपूर्ण प्रगति की है।

THEORETICAL QUESTIONS

1. रोकड़ रखने के उद्देश्यों को समझाईए।

Explain the motives for holding cash.

12

प्राप्यों का प्रबंध
(Management of Receivables)

रोकड़ और स्टॉक की तरह ही प्राप्यों का प्रबंध भी कार्यशील पूँजी के प्रबंध का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। किसी भी फर्म की चालू सम्पत्तियों का पर्याप्त भाग प्राप्यों के रूप में होता है। क्योंकि प्राप्यों में पर्याप्त राशि फँसी होती है अत: प्राप्यों का उचित प्रबंध अति महत्त्वपूर्ण है।

प्राप्यों का अर्थ
(Meaning of Receivables)

प्राप्य शब्द से आशय ऐसी देय राशियों से है जो व्यवसाय के सामान्य संचालन में वस्तुओं या सेवाओं के विक्रय के परिणामस्वरूप ग्राहकों द्वारा फर्म को देय हैं। यह ऐसे कोष हैं जो उधार विक्रय के कारण फँसे हुए हैं। प्राप्यों को व्यापारिक प्राप्य (Trade Receivables), प्राप्य खाते (Accounts Receivable), पुस्तकीय ऋण (Book Debts), विविध देनदार (Sundry Debtors) तथा प्राप्य विपत्र (Bills Receivables) इत्यादि भी कहा जाता है। प्राप्यों के प्रबंध को व्यापारिक साख के प्रबंध (Management of Trade Credit) के नाम से भी जाना जाता है।

प्राप्यों को रखने के उद्देश्य
(Motives or Purposes of maintaining receivables)

(*i*) **विक्रय में वृद्धि का उद्देश्य** (Sales growth motive) – उधार विक्रय का मुख्य उद्देश्य व्यवसाय के कुल विक्रय में वृद्धि करना है। उधार की सुविधा मिलने से वह ग्राहक भी माल खरीद सकते हैं जिनके पास रोकड़ की तंगी है। अत: प्राप्यों में विनियोग का मुख्य उद्देश्य विक्रय में वृद्धि करना है।

(*ii*) **लाभों में वृद्धि का उद्देश्य** (Increased profits motive) – उधार विक्रय के कारण व्यवसाय के कुल विक्रय में वृद्धि होती है। जिसके परिणामस्वरूप व्यवसाय के लाभ में वृद्धि होती है।

(*iii*) **विक्रय बनाए रखना अथवा प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने का उद्देश्य** (Sales retention or meeting competition motive) – बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा के विरुद्ध वर्तमान विक्रय को सुरक्षित रखने के लिए भी व्यवसाय में उधार माल बेचा जाता है। यदि माल उधार न बेचा जाए तो ग्राहक उन प्रतिस्पर्द्धियों से माल खरीदने लगते हैं जो उन्हें उधार की सुविधा प्रदान करते हैं।

प्राप्यों की लागत
(Costs Associated with Receivables)

जब कोई फर्म माल अथवा सेवाओं का उधार विक्रय करती है तो इसे कई प्रकार की लागतें वहन करनी पड़ती हैं। ऐसी लागतें निम्नलिखित हैं :

(*i*) **प्रशासनिक लागत** (Administrative Cost) – उधार विक्रय तथा ग्राहकों से वसूल की गई राशि का लेखा रखने के लिए एक अलग विभाग बनाना पड़ता है जिसमें अतिरिक्त स्टॉफ,

लेखांकन के रिकार्ड, स्टेशनरी इत्यादि की आवश्यकता होती है। ग्राहकों की साख योग्यता (Credit Worthiness) की जानकारी एकत्रित करने के लिए भी व्यय करने पड़ते हैं।

(*ii*) **पूँजी लागत** (Capital Cost) – माल के विक्रय तथा इसकी ग्राहकों से वसूली के बीच समयान्तर (Time Gap) होता है। इस दौरान फर्म को क्रयों, मजदूरी, वेतन एवं अन्य व्ययों का भुगतान करना पड़ता है। अत: फर्म को अतिरिक्त कोषों की आवश्यकता होती है जिनकी व्यवस्था या तो बाह्य स्रोतों से या संचित आयों (Retained Earnings) से की जाती है। यदि कोषों को बाह्य स्रोतों से प्राप्त किया जाता है तो इन पर ब्याज का भुगतान करना पड़ता है। दूसरी तरफ, यदि इस उद्देश्य के लिए संचित आयों का प्रयोग किया जाता है तो फर्म को अवसर लागत (Opportunity Cost) वहन करनी पड़ती हैं। अवसर लागत से आशय ऐसी आय से है जो इस राशि को अन्य कहीं विनियोजित करके अर्जित की जा सकती थी।

(*iii*) **संग्रहण लागत** (Collection Cost) – यह ऐसे व्यय हैं जो उधार अवधि के व्यतीत हो जाने के पश्चात ग्राहकों से रुपया वसूल करने के लिए करने पड़ते हैं। ऐसे व्ययों में अतिरिक्त समय तक कोषों के फँसे रहने की लागत, ग्राहकों को याद दिलाने के लिए पत्र (Reminders) भेजने की लागत इत्यादि सम्मिलित हैं।

(*iv*) **रुपया न चुकाने की लागत** (Default Cost) – प्रबंधकों के सभी प्रयासों के बावजूद भी फर्म सभी ग्राहकों से पूरी राशि वसूल करने में असमर्थ रह सकती है। ऐसी राशियों को डूबत ऋण (Bad Debts) अथवा रुपया न चुकाने की लागत (Default Cost) कहते हैं।

प्राप्यों से संबंधित लाभ
(Benefits associated with Receivables)

(*i*) **विक्रय में वृद्धि** (Increase in Sales) – जब फर्में उदार साख नीति अपनाती हैं अर्थात जब प्राप्यों (Receivables) में विनियोग करती हैं तो उनका लक्ष्य विक्रय में वृद्धि करना होता है। उधार विक्रय की सुविधा से एक फर्म नकद विक्रय की तुलना में अधिक मात्रा में विक्रय कर सकती है। उधार विक्रय से कुल विक्रय की मात्रा में इसलिए वृद्धि होती है क्योंकि जिन ग्राहकों के पास वर्तमान में चुकाने के लिए धन नहीं है उन्हें भी माल विक्रय किया जा सकता है। अत: उधार विक्रय से प्राप्यों में वृद्धि द्वारा विक्रय में वृद्धि की जाती है।

(*ii*) **लाभों में वृद्धि** (Increase in Profits) – उधार विक्रय से लाभों की मात्रा में दो प्रकार से वृद्धि होती है (i) उधार विक्रय पर लाभ की सीमा (Profit Margin) नकद विक्रय की अपेक्षा अधिक रखी जाती है और (ii) विक्रय की मात्रा तथा संचालन लाभों में धनात्मक (Positive) संबंध होता है।

(*iii*) **प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए** (To meet the Competition) : कई बार फर्में इसलिए भी उधार विक्रय करती हैं क्योंकि प्रतिस्पर्द्धी फर्में भी उधार विक्रय कर रही हैं। अत: वर्तमान विक्रय की प्रतिस्पर्धा से रक्षा करने के लिए भी उधार विक्रय किया जाता है।

अत: प्राप्यों में विनियोग से लागत भी बढ़ती हैं और लाभ भी। फलस्वरूप, प्राप्य के प्रबंध के लिए प्राप्यों की लागत तथा लाभ में तुलना (trade-off) की जानी चाहिए। उधार देने का निर्णय उधार की लागत तथा लाभ की तुलना के आधार पर लिया जाएगा।

प्राप्यों के संबंध में तुलना
(Trade off on Receivables)

प्राप्यों में विनियोग अथवा उधार विक्रय करने से लाभ भी प्राप्त होते हैं तथा साथ में लागतें भी वहन करनी पड़ती हैं। लाभों में विक्रय तथा लाभों में वृद्धि सम्मिलित है। दूसरी तरफ, फर्म को प्रशासनिक लागत,

पूँजी लागत, संग्रहण लागत तथा रुपया न चुकाने की लागत भी वहन करनी पड़ती है। अत: प्रबंधकों को ऐसी साख नीति का अनुसरण करना चाहिए जिससे की लाभों को अधिकतम और लागतों को न्यूनतम किया जा सके। इसके लिए प्राप्य प्रबंध का दायित्व है कि उधार विक्रयों में उस बिंदु तक वृद्धि करें जहाँ कि और अधिक उधार विक्रय से प्राप्त होने वाले लाभ ऐसे अधिक विक्रय की अतिरिक्त लागतों से कम होने लगें। अन्य शब्दों में, उधार विक्रय में उस बिंदु तक वृद्धि की जाती है जहाँ कि अतिरिक्त उधार विक्रय से होने वाला सीमांत लाभ सीमांत लागत के बराबर हो जाए। इस बिंदु पर, कुल विक्रय तथा कुल लागत में अंतर, अर्थात लाभ अधिकतम होगा और प्राप्यों में विनियोग अनुकूलतम होगा। अत: प्राप्य के संबंध में तुलना (trade-off) के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(*i*) विक्रय की अनुकूलतम (न कि अधिकतम) मात्रा प्राप्त करना,
(*ii*) उधार विक्रय की लागत को न्यूनतम रखना, और
(*iii*) प्राप्यों में विनियोजन को अनुकूलतम स्तर तक रखना।

प्राप्यों के प्रबंध का क्षेत्र अथवा पहलू
(Scope or Aspects of Receivables Management)

प्राप्यों के प्रबंध का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसमें निम्नलिखित पहलू सम्मिलित हैं :

(1) अनुकूलतम साख नीति का निर्माण (Formulation of Optimum Credit Policy)
(2) साख की शर्तों का निर्धारण (Determination of Credit Terms)
(3) संग्रहण नीति का निर्माण (Formulation of Collection Policy)
(4) साख नीति का मूल्यांकन (Evaluation of Credit Policy)

(1) **अनुकूलतम साख नीति का निर्माण** (Formulation of Optimum Credit Policy) – एक फर्म को इस विषय में एक स्पष्ट नीति की आवश्यकता है कि किसी ग्राहक को उधार माल दिया जाए या नहीं, और यदि दिया जाए तो किस सीमा तक। इस प्रकार के निर्णय करने के लिए साख प्रमाप (Credit Standards) निर्धारित किए जाते हैं। ग्राहक की साख क्षमता का मूल्यांकन करने के लिए साख विश्लेषण (Credit Analysis) की विधियाँ भी विकसित की जाती हैं। अत: साख नीति के दो अंग हैं :

I. साख प्रमाप (Credit Standards)
II. साख विश्लेषण (Credit Analysis)

I. **साख प्रमाप** (Credit Standards) – 'साख प्रमाप' ग्राहकों को उधार पर माल देने की आधारभूत कसौटी है। ग्राहकों को उधार देने के निर्णय उनकी उधार योग्यता (Credit Rating), उनके द्वारा दी गई प्रतिभूति (गिरवी रखी गई सम्पत्तियाँ), फर्म की औसत संग्रह अवधि और वित्तीय अनुपातों के आधार पर लिए जाते हैं। इन सभी तत्त्वों के प्रमाप निर्धारित कर लिए जाते हैं। साख प्रमाप निर्धारित करने से फर्म अपने उधार विक्रयों को नियंत्रित कर सकती है। यदि साख प्रमाप उदार (Liberal) अथवा बिना रुकावट वाले हैं तो उधार की मात्रा अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि साख प्रमाप कठोर (Tight) अथवा रुकावट वाले हैं तो उधार की मात्रा कम होगी। साख प्रमापों का निर्धारण उधार विक्रय से होने वाले लाभों तथा उधार विक्रय की लागतों की तुलना के आधार पर किया जाना चाहिए। लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर यदि यह पाया जाता है कि और अधिक उधार विक्रय करने से होने वाले लाभ अधिक उधार विक्रय की अतिरिक्त लागतों से अधिक हैं तो फर्म अपने साख प्रमापों में ढील दे सकती है जिससे कि विक्रयों में वृद्धि हो। इसके विपरीत, यदि यह पाया जाता है कि और अधिक उधार विक्रय करने से होने वाले लाभ अधिक उधार विक्रय की अतिरिक्त लागतों से कम हैं तो प्रबंधक साख प्रमापों को कठोर करके उधार को नियंत्रित कर सकते हैं। जिन तत्त्वों के प्रमाप निर्धारित किए जाते हैं उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – गुणात्मक तत्त्व

(Qualitative Factors) तथा संख्यात्मक तत्त्व (Quantitative Factors)। गुणात्मक तत्त्वों में ग्राहक को भुगतान करने की इच्छा और योग्यता, ग्राहक की प्रतिष्ठा अथवा छवि तथा अन्य सामाजिक तत्त्व सम्मिलित किए जाते हैं। संख्यात्मक तत्त्वों में औसत संग्रह अवधि तथा वित्तीय अनुपात सम्मिलित किए जाते हैं।

II. **साख विश्लेषण** (Credit Analysis) — ग्राहकों को उधार विक्रय करने से पूर्व उनकी साख क्षमता का मूल्यांकन करने के लिए साख विश्लेषण किया जाता है। साख विश्लेषण के आधार पर ही ग्राहक को उधार देने का निर्णय लिया जाता है। फर्म के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उधार देने के लिए सभी ग्राहकों को समान मानने की नीति अपनाए। प्रत्येक ग्राहक से उधार की शर्तें तय करने से पूर्व उसकी पूरी तरह जाँच की जानी चाहिए। उधार के लिए दिए गए प्रत्येक आवेदन का मूल्यांकन करने के लिए प्रविधियाँ विकसित की जानी चाहिए। उधार मूल्यांकन करने की प्रविधि के अन्तर्गत दो कदम उठाने होते हैं :

(*i*) साख सूचना प्राप्त करना (Obtaining Credit Information)
(*ii*) साख सूचना का विश्लेषण करना (Analysis of Credit Information)

(*i*) **साख सूचना प्राप्त करना** (Obtaining Credit Information) — विभिन्न स्रोतों से प्रत्येक ग्राहक से संबंधित साख सूचना एकत्रित की जाती है। साख सूचना एकत्रित करने के लिए खर्चे करने पड़ते हैं। सूचना एकत्रित करने के खर्चे सूचना से होने वाले सम्भावित लाभों से कम होने चाहिए। सूचना आन्तरिक एवं बाह्य दोनों स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है।

सूचना एकत्रित करने के आन्तरिक स्रोत के अन्तर्गत फर्म अपने ग्राहकों से फार्म भरवा सकती है जिसमें उनसे उनकी वित्तीय क्रियाओं का ब्यौरा भरवाया जा सकता है। उन्हें व्यापार हवाले (Trade References) देने के लिए भी कहा जा सकता है जिनसे सम्पर्क स्थापित करके फर्म आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त कर सकती है। पुराने ग्राहकों की दशा में उनसे संबंधित पिछले रिकार्डों के आधार पर साख सूचना प्राप्त की जा सकती है।

साख सूचना बाह्य स्रोतों से भी प्राप्त की जा सकती है। जैसे :

(अ) **वित्तीय विवरण** (Financial Statements) — वित्तीय विवरण, अर्थात स्थिति विवरण और लाभ-हानि विवरण, साख सूचना प्राप्त करने के प्रमुख स्रोत हैं। वित्तीय विवरणों का विश्लेषण ग्राहकों की लाभप्रदता, तरलता, वित्तीय सुदृढ़ता और ऋण क्षमता पर प्रकाश डालता है। अतः यह विवरण ग्राहकों की वित्तीय स्थिति की जाँच करने में सहायक हैं।

(ब) **बैंक हवाले** (Bank References) — ग्राहक का बैंक भी ग्राहक के बारे में साख सूचना का एक उपयोगी स्रोत है। ग्राहक के बैंक से साख सूचना फर्म अपने बैंक के माध्यम से प्राप्त करती है। ग्राहक को भी यह कहा जा सकता है कि वह अपने बैंक को निर्देश दे कि वह फर्म को वांछित सूचना प्रदान करे। ग्राहक के बैंक से उसके औसत बैंक शेष, उसके द्वारा लिया गया ऋण और ऐसे ऋण की वापसी में त्रुटि आदि के विषय में सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु भारतवर्ष में बैंक सूचनाएँ प्राप्त करने का कोई बहुत उपयोगी स्रोत नहीं हैं क्योंकि ये संदिग्ध अथवा अस्पष्ट सूचनाएँ प्रदान करते हैं। अतः अन्य स्रोतों से भी सूचनाएँ एकत्रित करनी चाहिए।

(स) **व्यापारिक हवाले** (Trade References) — ऐसे व्यक्ति अथवा फर्में जिनसे ग्राहक वर्तमान समय में व्यवसाय कर रहा है उसके बारे में साख सूचना प्राप्त करने के उपयोगी स्रोत हैं। ग्राहकों को ऐसे व्यापारिक हवाले देने के लिए कहा जा सकता है जिनसे फर्म आवश्यक सूचना प्राप्त करने के लिए सम्पर्क कर सके। परन्तु कभी-कभी ग्राहक भ्रमात्मक व्यापारिक हवाले भी दे सकता है। अतः इससे सुरक्षा के लिए, उनके द्वारा प्रदान की गई सूचना पर विश्वास करने से पूर्व उन व्यापारियों की ईमानदारी तथा निष्कपटता की जाँच कर लेनी चाहिए।

(द) **साख मूल्यांकन एजेन्सियों की रिपोर्ट** (Reports of Credit Rating Agencies) – साख मूल्यांकन एजेन्सियाँ विभिन्न स्रोतों जैसे बाजार, समाचारपत्रों, निजी अनुसंधान आदि के माध्यम से बड़ी संख्या में व्यावसायिक संस्थाओं के वित्तीय और प्रबंधकीय पहलुओं के विषय में सूचनाएँ एकत्रित करती रहती हैं। ऐसी एजेन्सियाँ ग्राहक के व्यवसाय के इतिहास, स्वामियों के जीवन वृतान्त, व्यवसाय के विवरण, वित्तीय स्थिति, भुगतान के रिकार्ड इत्यादि के बारे में सूचनाएँ प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण साधन हैं। विकसित देशों में इस प्रकार की बहुत सी मूल्यांकन एजेन्सियाँ हैं परन्तु हमारे देश में सूचना प्रदान करने के इस स्रोत का अभी अधिक विकास नहीं हुआ है।

(य) **बाजार रिपोर्ट** (Bazar Reports) – ग्राहक के विषय में साख सूचना उसी प्रकार के व्यापार या उद्योग में लगी हुई व्यावसायिक संस्थाओं से भी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु कई बार उनके द्वारा प्रदान की गई सूचना एक दूसरे के विपरीत भी हो सकती है। अत: बाजार रिपोर्टों की स्वतंत्र जाँच कर लेने के उपरान्त ही इनका प्रयोग करना चाहिए।

(फ) **अन्य स्रोत** – साख सूचना प्राप्त करने के अन्य साधन व्यापारिक डाइरेक्टरी, पत्रिकाएँ, जर्नल, सरकारी रेवेन्यू रिकार्ड जैसे कि आयकर विवरणी, बिक्री-कर विवरणी इत्यादि हैं।

(*ii*) **साख सूचना का विश्लेषण करना** (Analysis of Credit Information) – विभिन्न साधनों से साख सूचना प्राप्त करने के पश्चात ग्राहक की साख क्षमता का निर्धारण करने के लिए ऐसी सूचना का विश्लेषण किया जाता है। साख सूचना का विश्लेषण दो पहलुओं से किया जाना चाहिए :

(अ) संख्यात्मक पहलू (Quantitative Aspects)

(ब) गुणात्मक पहलू (Qualitative Aspects)

संख्यात्मक पहलू से विश्लेषण वित्तीय विवरणों में दी गई सूचनाओं, ग्राहक के पिछले रिकार्ड इत्यादि पर आधारित होता है। इसके अन्तर्गत ग्राहक के लेनदारों की काल-क्रम अनुसूची (Aging Schedule) बनाना तथा उसके लेनदारों की औसत भुगतान अवधि ज्ञात करना सम्मिलित है। संख्यात्मक पहलू में अनुपात विश्लेषण के आधार पर लाभप्रदता, तरलता तथा ऋण क्षमता का विश्लेषण करना भी सम्मिलित है।

संख्यात्मक मूल्यांकन के पूरक के रूप में गुणात्मक पहलू से भी विश्लेषण किया जाना चाहिए। इसमें प्रबंध की योग्यता, ऋण भुगतान करने की इच्छा, ग्राहक की सार्वजनिक छवि इत्यादि के बारे में निर्णय करना सम्मिलित है। ऐसा विश्लेषण बैंक हवालों, व्यापारिक हवालों, बाजार रिपोर्टों आदि के आधार पर किया जाता है।

अत: ग्राहक को साख प्रदान की जाए या नहीं और कितनी राशि की साख दी जाए, यह निर्णय साख सूचना के विश्लेषण पर निर्भर करता है। इसके लिए प्रत्येक ग्राहक के साख विश्लेषण से निकाले गए निष्कर्षों की तुलना फर्म के पहले से निर्धारित किए गए साख प्रमापों से की जाती है। यदि विश्लेषण से ज्ञात की गई ग्राहक की साख क्षमता फर्म के निर्धारित प्रमापों से कम है तो ग्राहक को साख सुविधा नहीं दी जानी चाहिए।

(2) **साख की शर्तों का निर्धारण** (Determination of Credit Terms) – साख प्रमाप स्थापित करने और ग्राहकों की साख क्षमता के निर्धारण के पश्चात प्राप्यों के प्रबंध का दूसरा पहलू उन शर्तों का निर्धारण करना है जिन पर साख प्रदान की जाएगी। साख शर्तें उन शर्तों को कहते हैं जो उधार विक्रय के भुगतान से संबंधित होती हैं। साख की शर्तों के तीन मुख्य अंग होते हैं :

(*i*) साख की अवधि (Credit Period)

(*ii*) नकद छूट (Cash Discount)

(*iii*) नकद छूट की अवधि (Cash Discount Period) (*i*) **साख की अवधि** (Credit Period) – साख की अवधि वह समयावधि है जिसके लिए ग्राहकों को साख दी जाती है और जिसके पश्चात उन्हें भुगतान करना होता है। उदाहरण के लिए 30 दिन की साख अवधि का अर्थ है कि ग्राहकों को विक्रय की तिथि के 30 दिन की समाप्ति से पूर्व भुगतान करना आवश्यक है। इसे 'शुद्ध 30' (Net 30) लिखा जाएगा।

(*ii*) **नकद छूट** (Cash Discount) – ग्राहकों को शीघ्र भुगतान के लिए प्रोत्साहित करने के लिए फर्म द्वारा नकद छूट दी जा सकती है। नकद छूट की अवधि (Cash Discount Period) के दौरान भुगतान करके ग्राहक नकद छूट का लाभ उठा सकते हैं। परन्तु यदि कोई ग्राहक नकद छूट का लाभ नहीं उठाना चाहता है तो उसे सामान्य साख अवधि (General Credit Period) की समाप्ति से पूर्व भुगतान करना होता है।

(*iii*) **नकद छूट की अवधि** (Cash Discount Period) – यह वह अवधि होती है जिसके दौरान नकद छूट उपलब्ध रहती है। इसे संक्षिप्त रूप (Abbreviation) में लिखा जाता है जैसे कि '2/10 net 30' सूचित करता है कि यदि भुगतान 10 दिन के अन्दर किया जाता है तो 2% नकद छूट दी जाएगी। यदि नकद छूट का लाभ नहीं उठाया जाता है तो ग्राहक को भुगतान विक्रय की तिथि के 30वें दिन की समाप्ति से पूर्व करना होगा।

फर्म को लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर साख की शर्तें निर्धारित करनी चाहिए। उदार साख शर्तों (Liberal Credit Terms) का अर्थ है साख अवधि में वृद्धि अथवा नकद कटौती की दर में वृद्धि। उदार साख शर्तों से यद्यपि एक तरफ विक्रय की मात्रा और लाभप्रदता में वृद्धि होती है परन्तु दूसरी तरफ प्राप्यों में विनियोग में वृद्धि, डूबत ऋण में वृद्धि और कटौती व्ययों में वृद्धि के कारण लागतों में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत, कठोर साख शर्तों (Stringent Credit Terms) से उधार विक्रय में कमी होती है जिसके परिणामस्वरूप डूबत ऋणों और कटौती आदि में तो कमी होती है परन्तु इससे लाभों में भी कमी आती है।

(3) **संग्रहण नीति का निर्माण** (Formulation of Collection Policy) – प्राप्यों के प्रबंध का तृतीय पहलू संग्रहण नीति का निर्माण करना है। संग्रहण नीति की आवश्यकता इसलिए पड़ती है क्योंकि सभी ग्राहक समय पर भुगतान नहीं करते हैं। कुछ ग्राहक देय तिथि के पश्चात भुगतान करते हैं और कुछ अन्य बिल्कुल भुगतान नहीं करते। यदि संग्रह में विलम्ब होता है तो इस दौरान क्रय, मजदूरी आदि का भुगतान करने के लिए अतिरिक्त कोषों की आवश्यकता पड़ती है। अतिरिक्त कोष प्राप्त करने में पूँजी लागत उठानी पड़ती है। संग्रह में विलम्ब होने से डूबत ऋणों के जोखिम में भी वृद्धि होती है। अत: शीघ्र संग्रहण अति आवश्यक है और संग्रहण नीति का प्रमुख उद्देश्य औसत संग्रह अवधि (Average Colection Period) को कम करना है।

संग्रहण नीति के अन्तर्गत ऐसी संग्रहण प्रविधियाँ (Collection Procedures) निर्धारित की जाती हैं जिनका पालन उन ग्राहकों से रुपया वसूल करने के लिए किया जाता है जो उन्हें दी गई साख अवधि में भुगतान नहीं करते। संग्रहण नीति में स्पष्ट संग्रहण प्रविधियों का निर्धारण किया जाना चाहिए। संग्रहण प्रविधियों का प्रयोग बड़ी सावधानी से और विक्रय विभाग से परामर्श लेकर ही करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि विक्रय विभाग से परामर्श किए बिना किसी स्थायी ग्राहक के विरुद्ध उसे अवसर दिए बिना संग्रहण प्रविधि शुरू कर दी गई, तो वह ग्राहक फर्म के प्रतिस्पर्द्धी की तरफ जा सकता है। अत: संग्रहण विभाग और विक्रय विभाग के बीच उचित समन्वय होना अति आवश्यक है। विक्रय विभाग को भी किसी ग्राहक को उधार देने से पूर्व लेखांकन अथवा संग्रहण विभाग से उस ग्राहक के बारे में पिछली सूचना प्राप्त हो जानी चाहिए।

संग्रहण प्रविधि के अनुसार फर्म की संग्रहण नीति कठोर या उदार हो सकती है। यदि कठोर संग्रहण प्रविधि अपनाई जाती है तो संग्रहण नीति को कठोर माना जाएगा। संग्रहण नीति के कठोर होने की दशा में 'औसत संग्रहण अवधि' कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप डूबत ऋणों और प्राप्यों की पूँजी लागत में

आती है। परन्तु कठोर संग्रहण नीति के परिणामस्वरूप संग्रह लागत में वृद्धि होती है और विक्रय में भी आती है क्योंकि ग्राहक प्रतिस्पर्द्धी फर्मों की तरफ आकर्षित हो सकते हैं। इसके विपरीत, उदार संग्रह के परिणामस्वरूप संग्रह लागत में कमी तथा विक्रय में वृद्धि होती है परन्तु डूबत ऋण और प्राप्यों की लागत में वृद्धि होती है। अतः संग्रहण नीति का निर्धारण लागत-लाभ सन्तुलन (Cost-benefit de-off) के आधार पर किया जाना चाहिए।

साख अवधि की समाप्ति के पश्चात फर्म को देनदारों से रुपया वसूल करने के लिए संग्रहण प्रविधि करनी चाहिए। प्रारम्भ में प्रयास विनम्र होने चाहिए परन्तु समय व्यतीत होने के साथ-साथ ये प्रयास करते जाना चाहिए। फर्म द्वारा किए गए प्रयासों में प्राय: निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :

(*i*) स्मरण पत्र (Reminder Letters)
(*ii*) टेलीफोन करना अथवा तार देना (Telephone Calls or Telegrams)
(*iii*) व्यक्तिगत मुलाकात (Personal Visits)
(*iv*) वसूली एजेन्सी की नियुक्ति करना (Engaging Collection Agency)
(*v*) बढ़ाई हुई भुगतान अवधि में निबटारा करना (Settlement at extended payment period)
(*vi*) कानूनी कार्यवाही (Legal Action)

अति कठोर प्रयास, जैसे कि कानूनी कार्यवाही केवल तभी करनी चाहिए जब वसूली के अन्य सभी य किए जा चुके हों क्योंकि कठोर प्रयासों में लागत अधिक आती है और इससे ग्राहकों से संबंधों पर भी रीत प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष रूप में, किसी ग्राहक के विरुद्ध संग्रहण प्रविधि प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नलिखित बातों पर न देना चाहिए :

(*i*) संग्रहण प्रविधि का निर्धारण ग्राहकों की प्रकृति, उनके साथ व्यावसायिक संबंध और प्रचलित व्यावसायिक रीतियों को ध्यान में रखकर करना चाहिए।
(*ii*) संग्रहण प्रविधि प्रारम्भ करने से पूर्व विक्रय विभाग से परामर्श कर लेना चाहिए। स्थायी अथवा बड़े ग्राहकों की दशा में साख अवधि समाप्त होते ही वसूली कार्यवाही आरम्भ नहीं करनी चाहिए।
(*iii*) प्रारम्भ में कठोर उपायों से बचना चाहिए।
(*iv*) लागत-लाभ विश्लेषण के बाद ही वसूली प्रविधि प्रारम्भ की जानी चाहिए। किसी भी दशा में वसूली की लागत वसूल की गई राशि से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(4) **साख नीति का मूल्यांकन** (Evaluation of Credit Policy) – साख नीति का निर्माण प्यों में विनियोग को अनुकूलतम स्तर पर बनाए रखने के लिए किया जाता है। प्राप्यों के अनुकूलतम स्तर आशय ऐसे स्तर से है जहाँ अतिरिक्त उधार विक्रय की लागत, अतिरिक्त विक्रय से होने वाले लाभों से धिक होने लगती है। यदि प्राप्यों में विनियोग अनुकूलतम स्तर से अधिक है तो भविष्य के उधार विक्रयों नियन्त्रण रखने के लिए साख नीति को सख्त किया जाता है। परन्तु इसके विपरीत, यदि प्राप्यों की राशि नुकूलतम स्तर से कम है तो साख नीति को उदार कर दिया जाता है जिससे कि उधार विक्रय में वृद्धि की सके। अतः एक फर्म को निरन्तर रूप से अपने प्राप्यों की जाँच तथा इन्हें नियन्त्रित करते रहना चाहिए। प्राप्यों की जाँच (Monitor) करने के लिए निम्नलिखित विधियाँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं :

(*i*) **प्राप्य आवर्त अनुपात** (Receivables Turnover Ratio) **अथवा देनदार आवर्त अनुपात:**

$$\text{Receivables Turnover Ratio} = \frac{\text{Net Credit Sales}}{\text{Average Accounts Receivables}}$$

Where, Average Accounts Receivables = Average Debtors + Average B/R.

यदि यह अनुपात 6 आता है तो इसका अर्थ है कि प्राप्यों से $\frac{12}{6}$ अर्थात 2 माह पश्चात रुपया वसूल किया जा रहा है। इसी प्रकार, यदि यह अनुपात 3 आता है तो इसका अर्थ है कि प्राप्यों से $\frac{12}{3}$ अर्थात 4 माह पश्चात रुपया वसूल किया जा रहा है। उच्च आवर्त अनुपात का अर्थ है कि प्राप्यों की मात्रा उधार विक्रय की तुलना में कम है, जो कि कठोर साख नीति का सूचक होता है। इसके विपरीत, निम्न आवर्त अनुपात उदार साख नीति का सूचक होता है।

Average Collection Period or Average Age of Receivables

$$= \frac{\text{Months or Days in a Period}}{\text{Receivables Turnover Ratio}}$$

EXAMPLE :

Calculate the 'Average Collection Period' from the following :

Credit Sales during the year	₹10,00,000
Accounts Receivables in the beginning	₹ 80,000
Accounts Receivables at the end	₹ 1,20,000

SOLUTION :

$$\text{Receivables Turnover Ratio} = \frac{₹10,00,000}{(₹80,000 + ₹1,20,000)\ \frac{1}{2}} = 10 \text{ times}$$

$$\text{Average Collection Period} = \frac{12 \text{ months}}{10 \text{ times}} = 1.2 \text{ months}$$

(*ii*) **प्राप्यों की काल-क्रम अनुसूची** (Aging Schedule of Receivables) – यह अनुसूची यह ज्ञात करने के लिए तैयार की जाती है कि प्राप्यों की कितनी राशि कितनी पुरानी है। प्राप्यों की राशि का उसके काल-क्रम के अनुसार वर्गीकरण किया जाता है। इससे प्रबंधकों को प्रत्येक वर्ग के प्राप्यों की वसूली के लिए प्रयोग की जाने वाली संग्रह प्रविधियों के स्तर के निर्धारण करने में सहायता मिलती है। प्राप्यों की काल-क्रम अनुसूची का एक नमूना निम्नलिखित है :

AGING SCHEDULE OF ACCOUNTS RECEIVABLE

Outstanding Period (Days)	*No. of Accounts*	*Amount*	*No. of Accounts as % of Total Accounts*	*Amount as % of Total Amount*
		₹		
0 – 30	125	2,40,000	25.0	40.0
31 – 45	150	1,20,000	30.0	20.0
46 – 60	52	75,000	10.4	12.5
61 – 75	66	38,400	13.2	6.4
76 – 90	60	54,600	12.0	9.1
Over 90	47	72,000	9.4	12.0
	500	6,00,000	100.00	100.00

पूँजीकरण
(Capitalisation)

पूँजीकरण वित्तीय योजना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। 'पूँजीकरण' शब्द क्योंकि 'पूँजी' से लिया गया त: सामान्य प्रचलन में इसका अर्थ व्यवसाय में विनियोजित पूँजी की मात्रा से लिया जाता है। परन्तु करण शब्द की परिभाषा के विषय में विभिन्न लेखकों ने विभिन्न विचार प्रकट किए हैं। कुछ लेखकों से विस्तृत रूप दिया है जबकि अन्य लेखकों ने इसे संकीर्ण अर्थ में प्रयोग किया है।

पूँजीकरण का विस्तृत अर्थ (Broad Interpretation of Capitalisation) – विस्तृत अर्थ में ीकरण को वित्तीय नियोजन का पर्यायवाची माना जाता है। इस अर्थ में पूँजीकरण में निम्नलिखित को मलित किया जाता है :

(*i*) एकत्रित की जाने वाली पूँजी की कुल मात्रा का पूर्वानुमान लगाना

(*ii*) पूँजी एकत्रित करने के लिए निर्गमित की जाने वाली प्रतिभूतियों के प्रकार निर्धारित करना, तथा

(*iii*) विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का अनुपात निर्धारित करना

अत: विस्तृत अर्थ में, पूँजीकरण शब्द में न केवल पूँजी की मात्रा का पूर्वानुमान करना ही सम्मिलित कया जाता है बल्कि निर्गमित की जाने वाली प्रतिभूतियों के प्रकार और उनका आपसी अनुपात निर्धारण रना भी सम्मिलित है। परन्तु पूँजीकरण का यह अर्थ भ्रमात्मक और दोषपूर्ण माना जाता है क्योंकि तिभूतियों के प्रकार और उनमें अनुपात को एक अलग शब्द के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है जिसे 'पूँजी ढाँचा' (Capital Structure) कहा जाता है।

पूँजीकरण का संकीर्ण अर्थ (Narrow Interpretation of Capitalisation) – संकीर्ण अर्थ में पूँजीकरण से अर्थ उस प्रक्रिया से लिया जाता है जिसके द्वारा फर्म के लिए आवश्यक दीर्घ-कालीन कोषों की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। इस अर्थ में, विभिन्न प्रतिभूतियों के प्रकार और उनके आपसी अनुपात के निर्धारण को पूँजीकरण में शामिल नहीं किया जाता क्योंकि वे 'पूँजी ढाँचे' के अन्तर्गत आते हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ जो संकीर्ण अर्थ को उचित मानती हैं निम्नलिखित हैं :

गुथमैन एवं डूगल के अनुसार, "पूँजीकरण से आशय अदत्त स्टॉकों और बान्डों के सम-मूल्य के कुल योग से है।"[1]

यह परिभाषा पूँजीकरण की परिभाषा में केवल अंशों, ऋणपत्रों और बान्डों को ही सम्मिलित करती है और संचयों और आधिक्यों को सम्मिलित नहीं करती। परन्तु, व्यवहार में प्राय: सभी फर्में अपनी दीर्घ-कालीन पूँजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़ी मात्रा में संचयों और आधिक्यों का प्रयोग करती हैं। अत: यह परिभाषा तर्कपूर्ण प्रतीत नहीं होती।

---

1. "Capitalisation is the sum of the par value of stocks and bonds outstanding."
— *Guthmann and Dougall*

चार्ल्स. डब्ल्यू. गर्स्टनबर्ग के अनुसार, "पूँजीकरण में स्वामित्व पूँजी सम्मिलित है जिसमें पूँजी स्टॉक तथा किसी भी रूप में प्रदर्शित आधिक्य सम्मिलित होते हैं तथा ऋण पूँजी सम्मिलित है जिसमें बन्ध और इसी प्रकार के दीर्घ-कालीन ऋण सम्मिलित होते हैं।"[1]

उपरोक्त परिभाषाओं का सार यह है कि पूँजीकरण से तात्पर्य कम्पनी द्वारा निर्गमित की गई सभी दीर्घ-कालीन प्रतिभूतियों और उन आधिक्यों से है जिन्हें वितरण नहीं किया जाना है। अन्य शब्दों में पूँजीकरण में शामिल हैं (*i*) विभिन्न प्रकार के अंशों का सम-मूल्य, (*ii*) दीर्घ-कालीन ऋण, और (*iii*) संचय एवं आधिक्य।

पूँजीकरण का आधुनिक दृष्टिकोण

(Modern Concept of Capitalisation)

पूँजीकरण के संकीर्ण दृष्टिकोण को व्यापक मान्यता प्राप्त है क्योंकि इसका अर्थ काफी स्पष्ट है। परन्तु आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार पूँजीकरण में केवल दीर्घ-कालीन कोषों को ही नहीं बल्कि अल्प-कालीन कोषों को भी शामिल किया जाता है। **वाकर एवं बार्गेन के अनुसार,** "पूँजीकरण का प्रयोग केवल दीर्घकालीन ऋण एवं स्वामी पूँजी को सम्बोधित करने के लिए करना तथा यह कहना कि, अल्पकालीन लेनदार पूँजी प्रदान नहीं करते, गलत है। वास्तविक व्यवहार में कुल पूँजी अल्पकालीन लेनदारों तथा दीर्घकालीन लेनदारों द्वारा प्रदान की जाती है।"[2]

अत: आधुनिक विचारधारा के अनुसार पूँजीकरण में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :

(*i*) अंश पूँजी (Share Capital)
(*ii*) संचय एवं आधिक्य (Reserves and Surplus)
(*iii*) दीर्घ-कालीन ऋण (Long-term Loans)
(*iv*) अल्प-कालीन ऋण एवं लेनदार (Short-term Loans and Creditors)

पूँजीकरण, पूँजी, पूँजी ढाँचे तथा वित्तीय ढाँचे में अन्तर

(Difference between Capitalisation, Capital, Capital Structure and Financial Structure)

पूँजीकरण से तात्पर्य व्यवसाय में विनियोजित पूँजी की कुल मात्रा से है। इसमें अंश पूँजी, दीर्घ-कालीन ऋण, संचय तथा आधिक्य सम्मिलित किए जाते हैं। पूँजीकरण शब्द का प्रयोग केवल कम्पनियों के संबंध में ही किया जाता है तथा इसे एकाकी स्वामित्व तथा साझेदारी फर्मों के संबंध में प्रयोग नहीं किया जाता है।

'पूँजी' शब्द से तात्पर्य व्यवसाय के **शुद्ध मूल्य** (Net Worth) से होता है। इससे अभिप्राय व्यवसाय की कुल सम्पदा (Total Wealth) से लिया जाता है जिसे कुल सम्पत्तियों में से सभी दीर्घ-कालीन और अल्प-कालीन दायित्वों को घटाकर ज्ञात किया जाता है। वास्तव में यह पूँजीकरण का ही एक अंग है। इसी प्रकार 'अंश पूँजी' का अभिप्राय कम्पनी द्वारा निर्गमित अंशों के चुकता मूल्य (Paid-up value) से होता है। अत: 'पूँजी' शब्द में संचय भी शामिल होते हैं जबकि 'अंश पूँजी' में संचय शामिल नहीं होते हैं।

'पूँजी ढाँचा' उस अनुपात को प्रदर्शित करता है जिस अनुपात में वित्त के दीर्घ-कालीन स्त्रोतों जैसे कि

---

[1] "Capitalisation comprises ownership capital which includes capital stock and surplus in whatever form it may appear and borrowed capital which consists of bonds or similar evidences of long-term debt."— *Charles W. Grestenberg*

[2] "The use of capitalisation to refer to only long-term debt and capital stock; and short-term creditors do not constitute suppliers of capital is erroneous. In reality total capital is furnished by short-term creditors and long-term creditors." — *Walker and Baughn*

पूँजीकरण के सिद्धान्त

(Theories or Principles of Capitalisation)

पूँजीकरण की मात्रा निर्धारण करने का कार्य एक महत्वपूर्ण एवं कठिन कार्य है। पूँजीकरण की मात्रा निर्धारित करने की आवश्यकता एक नई स्थापित कम्पनी के लिए भी होती है और वर्तमान संस्था के लिए भी। नई कम्पनी की दशा में यह कार्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन है क्योंकि इसे न केवल वर्तमान आवश्यकताओं के लिए बल्कि भविष्य की आवश्यकताओं के लिए भी पूँजी की आवश्यकता होती है। ऐसी दशा में पूँजी के या तो अत्यधिक अथवा अपर्याप्त मात्रा में एकत्रित करने का खतरा होता है। परन्तु विद्यमान संस्थाओं में यह समस्या अलग ही होती है। उन्हें अपनी वित्तीय नीति में सुधार या संशोधन करना होता है जिसके लिए वह या तो नई प्रतिभूतियों के निर्गमन द्वारा पूँजी में वृद्धि करती हैं या पुरानी प्रतिभूतियों के शोधन द्वारा पूँजी में कमी करती हैं जिससे कि पूँजीकरण व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुरूप हो जाए। पूँजीकरण की मात्रा का निर्धारण करने के लिए दो सिद्धान्त हैं :

(1) पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त (Cost Theory of Capitalisation)

(2) पूँजीकरण का आय सिद्धान्त (Earning Theory of Capitalisation)

(1) **पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त** (Cost theory of Capitalisation) – इस सिद्धान्त के अनुसार, एक नए स्थापित व्यवसाय के लिए पूँजीकरण की राशि का निर्धारण इसकी वित्तीय आवश्यकताओं के आधार पर किया जाता है। जब एक नया व्यवसाय स्थापित किया जाता है तो इसे स्थायी सम्पत्तियों जैसे संयन्त्र, मशीनरी, भवन, पेटेन्ट इत्यादि में विनियोग करने की आवश्यकता होती है। उसे स्टॉक, देनदार आदि में विनियोग करने के लिए कार्यशील पूँजी की भी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, उसे व्यवसाय के प्रवर्तन (Promotion) तथा संगठन पर भी कुछ व्यय करने होते हैं। इन सभी मदों के लिए आवश्यक राशि का योग करने से पूँजीकरण की राशि ज्ञात हो जाती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी फर्म को 20,00,000₹ की स्थायी सम्पत्तियों की आवश्यकता है, 10,00,000₹ कार्यशील पूँजी के लिए चाहिए और व्यवसाय की स्थापना की लागत के लिए 2,50,000₹ चाहिए तो पूँजीकरण की कुल राशि 32,50,000₹ होगी। कम्पनी द्वारा यह राशि अंशों, ऋणपत्रों आदि के निर्गमन द्वारा प्राप्त की जाएगी।

पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त नए स्थापित व्यवसायों के लिए बहुत ही उपयोगी है क्योंकि इससे प्रवर्तकों को यह ज्ञात हो जाता है कि उन्हें कुल कितनी पूँजी एकत्रित करनी है। परन्तु यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से

न्तोषजनक नहीं है क्योंकि यह व्यवसाय की आय क्षमता (Earning Capacity) को ध्यान में नहीं रखता। स सिद्धान्त के अनुसार पूँजीकरण की मात्रा व्यवसाय में किए जाने वाले प्रारम्भिक विनियोग पर आधारित है जिसमें व्यवसाय की आय क्षमता में परिवर्तन के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जाता। जैसे कि, उदाहरण के लिए, कुछ स्थायी सम्पत्तियाँ अप्रचलित (Obsolete) हो जाती हैं और कुछ बेकार (Idle) पड़ी रहती हैं जिसके कारण व्यवसाय की आय क्षमता में गिरावट आती है। फलस्वरूप कम्पनी विनियोजित पूँजी पर उचित र से प्रतिफल नहीं दे पाएगी। जिसका परिणाम यह निकलेगा कि कम्पनी अतिपूँजीकरण (Over-Capitalisation) की स्थिति में फँस जाएगी। अतः यह सिद्धान्त विद्यमान संस्थाओं पर लागू नहीं होता योंकि यह सिद्धान्त यह बता पाने में असमर्थ रहता है कि व्यवसाय में विनियोजित की हुई पूँजी उस व्यवसाय की लाभप्रदता अथवा आय क्षमता के अनुरूप है या नहीं। इसके अतिरिक्त लागत के अनुमान भी ऐतिहासिक (Historical) होते हैं जो कि मूल्य स्तर में परिवर्तनों का ध्यान नहीं रखते।

(2) **पूँजीकरण का आय सिद्धान्त** (Earning Theory of Capitalisation) – यह सिद्धान्त इस तथ्य को स्वीकार करता है कि संस्था का पूँजीकरण उसकी आय क्षमता पर निर्भर करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, संस्था का पूँजीकरण दो तत्त्वों पर निर्भर करता है :

(i) भविष्य की आय का अनुमान (Estimate of Future Earnings)

(ii) आय की सामान्य दर अथवा पूँजीकरण की दर (Normal Earning Rate also termed as Capitalisation Rate)

(*i*) **भविष्य की आय का अनुमान** (Estimate of Future Earnings) – भविष्य की आय को पूर्वानुमान करने का कार्य एक कठिन कार्य है। विद्यमान संस्थाओं की दशा में भविष्य की आयों का पूर्वानुमान पिछले वर्षों की औसत आय के आधार पर लगाया जाता है क्योंकि पिछले वर्षों की आय यह सूचित करती हैं कि भविष्य में कितनी आय होने की सम्भावना है। पिछले वर्षों की औसत आय की गणना करते समय केवल सामान्य लाभों को ही शामिल करना चाहिए। यदि किसी वर्ष कोई असामान्य आय (Abnormal Income) हुई है तो इसे उस वर्ष के लाभों में से घटा देना चाहिए और यदि किसी वर्ष कोई असामान्य हानि (Abnormal Loss) हुई है जैसे कि बाढ़ से अथवा अग्नि आदि से, तो इसे लाभों में वापिस जोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यदि किसी व्यवसाय के लाभों में निरन्तर वृद्धि की प्रवृति दिखाई दे रही है तो औसत लाभ ज्ञात करने के लिए सबसे नजदीक के वर्ष के लाभ को अधिक भार (Weight) देना चाहिए और सबसे दूर के वर्ष के लाभ को कम भार देना चाहिए।

एक नए स्थापित किए जाने वाले व्यवसाय की दशा में भविष्य की आयों का अनुमान लगाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन कार्य है। इस उद्देश्य के लिए, नई स्थापित होने वाली संस्था की लागत और आय का पूर्वानुमान लगाया जाता है। लागत का पूर्वानुमान सामग्री एवं श्रम की लागत तथा अन्य कार्यशील व्ययों के आधार पर लगाया जाता है। आय का पूर्वानुमान विक्रय अनुमानों (Sales Estimates) के आधार पर लगाया जाता है। इसके पश्चात लागत और आय के इन पूर्वानुमानों की तुलना उसी उद्योग में लगी हुई अन्य फर्मों की वास्तविक लागतों और आयों से की जाती है। ऐसी तुलना करते समय नई फर्म के आकार, स्थान, प्रबंधकीय अनुभव, विकास की गति आदि को ध्यान में रखना चाहिए। इस प्रकार से पूर्वानुमानित की गई आय को पूँजीकरण की मात्रा ज्ञात करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

(*ii*) **आय की सामान्य दर अथवा पूँजीकरण की दर** (Normal Earning Rate or Capitalisation Rate) – आय की सामान्य दर से आशय ऐसी दर से है जो विनियोजकों को उस संस्था में धन विनियोजित करने के लिए आकर्षित करने के लिए देनी अनिवार्य है। इस दर का अनुमान उसी प्रकार के व्यवसाय में लगी हुई अन्य कम्पनियों द्वारा अर्जित दर के आधार पर लगाया जाता है। आय की यह दर प्रत्येक उद्योग में भिन्न-भिन्न होती है।

उपरोक्त वर्णित विधि से भविष्य की आय तथा आय की सामान्य दर का पूर्वानुमान करने के पश्चात् पूँजीकरण की मात्रा का निर्धारण किया जा सकता है। उदाहरणतया: यदि किसी कम्पनी की भविष्य की अनुमानित आय 1,60,000₹ है और आय की सामान्य दर का अनुमान 8% लगाया जाता है तो उसके पूँजीकरण की मात्रा 20,00,000₹ (अर्थात् 1,60,000₹ × $\frac{100}{8}$) होनी चाहिए। यदि इस राशि की तुलना कम्पनी के पूँजीकरण की वास्तविक राशि से की जाती है तो यह ज्ञात हो जाएगा कि कम्पनी में उचित पूँजीकरण है, अति-पूँजीकरण है अथवा अल्प-पूँजीकरण है।

पूँजीकरण का आय सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत (Logical) प्रतीत होता है क्योंकि यह पूँजीकरण की राशि का प्रत्यक्ष रूप से आय क्षमता से संबंध स्थापित करता है। परन्तु इस सिद्धान्त की भी सीमाएँ हैं। यह सिद्धान्त तभी लागू किया जा सकता है जबकि फर्म की भविष्य की आय और आय की सामान्य दर का सही-सही अनुमान लगाया जा सकता हो। वास्तविक व्यवहार में, इन दोनों तत्त्वों का सही-सही पूर्वानुमान करना एक अत्यन्त ही कठिन कार्य है। फर्म की भविष्य की आय अनेक तत्त्वों पर निर्भर करती है जैसे कि इसकी वस्तुओं की माँग, उद्योग में प्रचलित प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा, प्रबंध की कार्य-कुशलता और श्रम की उत्पादकता आदि। इसी प्रकार, आय की सामान्य दर का निर्धारण करना भी कोई आसान कार्य नहीं है क्योंकि यह विनियोजकों की आशाओं और उस व्यवसाय में जोखिम के स्तर पर निर्भर करती है।

आय सिद्धान्त की उपर्युक्त सीमाओं के कारण, नए उपक्रमों की दशा में पूँजीकरण के लागत सिद्धान्त को अधिक महत्त्व दिया जाता है। दूसरी ओर, विद्यमान उपक्रमों की दशा में पूँजीकरण का आय सिद्धान्त पूँजीकरण के लिए अधिक उपयुक्त आधार प्रस्तुत करता है।

अति-पूँजीकरण
(Over-Capitalisation)

प्राय: अति-पूँजीकरण को गलत रूप से पूँजी का आधिक्य माना जाता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में, अति- पूँजीकृत संस्थाओं में पूँजी की कमी पाई जाती है।

वास्तव में, अति-पूँजीकरण से तात्पर्य ऐसी स्थिति से है जब कोई कम्पनी इसमें विनियोजित पूँजी पर उचित दर (fair rate) से भी कम दर से आय अर्जित करती है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई कम्पनी लगातार रूप से उसमें विनियोजित पूँजी पर उचित दर से आय उपार्जित करने में असमर्थ रहती है तो उसे अति-पूँजीकरण वाली कम्पनी कहा जाता है।

बोनविल्ले एवं ड्यूवे के शब्दों में, ''जब एक व्यवसाय अपनी देय प्रतिभूतियों पर उचित दर से आय अर्जित करने में असमर्थ है तो वह अति-पूँजीकृत होता है।''[1]

गेस्टनबर्ग के अनुसार, ''एक निगम तब अति-पूँजीकृत होता है जब उसकी आय निर्गमित अंशों एवं बान्डों पर एक उचित दर से प्रत्याय देने के लिए भी अपर्याप्त हो, अथवा जब उसकी देय प्रतिभूतियों का पुस्तकीय-मूल्य सम्पत्तियों के वर्तमान मूल्य से अधिक हो।''[2]

---

1. ''When a business is unable to earn a fair rate of return on its outstanding securities, it is over-capitalised.'' — *Bonneville and Dewey*
2. ''A Corporation is over-capitalised when its earnings are not large enough to yield a fair return on the amount of stocks and bonds that have been issued, or when the amount of securities outstanding exceeds the current value of assets.'' — *Gerstenberg*

हैरोल्ड गिलबर्ट ने भी इन्हीं विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "जब कोई कम्पनी अपनी देय प्रतिभूतियों पर (उसी उद्योग में वैसी ही कम्पनियों के लाभोपार्जन तथा निहित जोखिम की मात्रा को ध्यान में रखते हुए) बाजार में वर्तमान प्रत्याय दर से प्रत्याय अर्जित करने में निरन्तर असमर्थ रहती है, तो उसे अति-पूँजीकृत कहा जाता है।"[1]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अति-पूँजीकरण की स्थिति व्यवसाय की लाभोपार्जन क्षमता में गिरावट के कारण उत्पन्न होती है। जिससे इसकी आय इतनी भी नहीं होती कि इसमें विनियोजित पूँजी पर पर्याप्त दर से प्रत्याय (Return) दिया जा सके। उदाहरण के लिए, एक कम्पनी इसमें विनियोजित 20,00,000₹ की पूँजी पर 2,00,000₹ लाभ अर्जित कर रही है। यदि बाजार में प्रचलित सामान्य प्रत्याय की दर (Normal Rate of Return) 10% है तो यह कम्पनी उचित पूँजीकरण (Fair Capitalisation) की स्थिति में कही जाएगी। परन्तु यदि यह कम्पनी केवल 1,20,000₹ लाभ अर्जित करती है, जबकि प्रचलित सामान्य दर 10% ही है तो इस कम्पनी को अति-पूँजीकरण वाली कम्पनी कहा जाएगा, क्योंकि यह कुल विनियोजित पूँजी पर केवल 6% ही प्रत्याय (Return) दे पाएगी।

यह ज्ञात करने के लिए कि कम्पनी उचित दर से आय अर्जित कर रही है अथवा नहीं, कम्पनी द्वारा अर्जित आय दर की तुलना उसी उद्योग में लगी हुई उस जैसी अन्य फर्मों की आय दर से करनी चाहिए। यदि कम्पनी की आय दर अन्य फर्मों की औसत आय दर से काफी कम है तो इसका अर्थ यह होगा कि कम्पनी इसमें विनियोजित पूँजी पर उचित दर से आय उपार्जित करने में असमर्थ है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी कम्पनी को उसी दशा में अति-पूँजीकृत कहा जाएगा जबकि यह दीर्घ अवधि तक लगातार उचित दर उपार्जित करने में असमर्थ रही है। यदि इसकी आय में असाधारण घटनाओं जैसे हड़ताल, तालाबन्दी आदि के कारण अस्थायी रूप से गिरावट आती है तो कम्पनी को अति-पूँजीकृत नहीं कहा जाएगा।

अति-पूँजीकरण के कारण
(Causes of Over-Capitalisation)

अति-पूँजीकरण के कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

(1) **अत्यधिक पूँजी निर्गमन** (Over-issue of Capital) — जब एक कम्पनी आवश्यकता से धिक पूँजी का निर्गमन कर देती है तो इसके पास काफी पूँजी बेकार पड़ी रहती है। बेकार पड़ी पूँजी के रण व्यवसाय की लाभोपार्जन क्षमता में गिरावट आती है। इससे अति-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो ती है क्योंकि उस पूँजी पर भी लाभांश देना पड़ता है जो बेकार पड़ी हुई है। इससे लाभांश की दर कम हो ती है जिससे इसके अंशों के बाजार मूल्य में गिरावट आ जाती है।

(2) **सम्पत्तियों के बढ़े हुए मूल्य से कम्पनी का प्रवर्तन** (Promotion of the Company th Inflated Assets) — यदि ऊँचे मूल्य पर सम्पत्तियाँ खरीदकर एक कम्पनी का प्रर्वतन किया गया है ऐसी कम्पनी अति-पूँजीकरण का शिकार हो जाएगी। इसका कारण यह है कि सम्पत्तियों के ऐसे मूल्यों उनकी लाभोपार्जन शक्ति से कोई संबंध नहीं होता। ऐसी स्थिति विशेष रूप से उस समय उत्पन्न होती है एक साझेदारी फर्म अथवा निजी कम्पनी को एक सार्वजनिक कम्पनी के रूप में परिवर्तित किया जाता र उस प्रक्रिया में उनकी सम्पत्तियाँ सार्वजनिक कम्पनी को उनके वास्तविक मूल्यों से अधिक मूल्यों पर तरित कर दी जाती हैं। कभी-कभी प्रवर्तक भी अपनी सम्पत्तियाँ काफी ऊँचे मूल्यों पर नई कम्पनी को तरित कर देते हैं।

---

[1] "When a company has consistently been unable to earn the prevailing rate of return on its outstanding securities (considering the earnings of similar companies in the same industry and the degree of risk involved) it is said to be over-capitalised." — *Harold Gilbret*

(3) **तेजी काल में कम्पनी का प्रवर्तन अथवा विस्तार** (Promotion or Expansion of Company during Boom Period) — यदि किसी कम्पनी की स्थापना अथवा विस्तार तेजी काल में किया जाता है तो वह अति-पूँजीकरण की स्थिति में फँस सकती है। इसका कारण यह है कि सम्पत्तियों के लिए चुकाया गया मूल्य काफी अधिक होगा। जब तेजी काल समाप्त हो जाता है तो इन सम्पत्तियों का वास्तविक मूल्य काफी गिर जाता है जबकि पुस्तकों में इन्हें पुराने मूल्यों पर ही दिखाया जाएगा। ऐसी कम्पनी अतिपूँजीकृत कही जाएगी क्योंकि मन्दी के कारण इसकी आय उपार्जन क्षमता तो कम हो जाएगी परन्तु सम्पत्तियाँ और पूँजी पुस्तकों में पुराने मूल्यों पर ही दिखाए जाएँगे।

(4) **अधिक प्रवर्तन व्यय** (High Promotion Expenses) — यदि प्रर्वतकों ने कम्पनी के प्रवर्तन के समय अत्यधिक व्यय किए हैं तो इससे भी अति-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। हो सकता है कि अंशों के निर्गमन एवं अभिगोपन पर बहुत अधिक राशि खर्च कर दी गई हो और प्रवर्तकों ने अपनी सेवाओं के बदले काफी बड़ी राशि पारिश्रमिक के रूप में ली हो। ऐसी दशा में कम्पनी की आय का काफी बड़ा हिस्सा इन व्ययों के अपलेखन में प्रयुक्त हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप कम्पनी अपने अंशों पर उचित दर से लाभांश नहीं दे पाएगी।

(5) **प्रवर्तन के समय आय का अधिक अनुमान लगाना** (Over-estimation of Earnings at the time of Promotion) — एक नई संस्था की दशा में, पूँजीकरण का निर्धारण भविष्य की आय के पूर्वानुमान के आधार पर किया जाता है। परन्तु यदि बाद में यह पाया जाता है कि वास्तविक आय पूर्वानुमानित आय से कम है तो अति-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि आरम्भ में किसी कम्पनी की आय का पूर्वानुमान 50,000₹ वार्षिक लगाया गया और आय की वर्तमान दर (अथवा पूँजीकरण की दर) 10% है तो इसकी पूँजीकरण की राशि 5,00,000₹ निर्धारित की जाएगी। बाद में यह पता लगा कि कम्पनी की वास्तविक आय केवल 40,000₹ है। इसके आधार पर कम्पनी की पूँजीकरण की राशि 4,00,000₹ होनी चाहिए थी। अत: कम्पनी 1,00,000₹ से अति पूँजीकृत हो जाएगी।

(6) **प्रवर्तन के समय आय की दर का कम अनुमान लगाना** (Under-estimation of Rate of Return at the Time of Promotion) — यह भी हो सकता है कि एक संस्था ने अपनी आय की मात्रा का तो सही पूर्वानुमान लगाया हो परन्तु आय की दर (अथवा पूँजीकरण की दर) को कम अनुमानित कर लिया हो। उदाहरण के लिए, एक कम्पनी की वार्षिक आय का अनुमान 50,000₹ लगाया गया और आय की दर 10% निर्धारित की गई। इस दर के आधार पर पूँजीकरण की राशि 5,00,000₹ निश्चित की गई। बाद में यह पता लगा कि आय की वास्तविक दर 12.5% है और इस दर से पूँजीकरण की मात्रा 4,00,000₹ (अर्थात् $\frac{50,000}{12.5} \times 100$) होनी चाहिए थी। अत: 1,00,000₹ से अति-पूँजीकरण है।

(7) **पूँजी का अभाव** (Shortage of Capital) — कभी-कभी पूँजी के अभाव के कारण भी अति-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह उस समय होता है जब प्रवर्तक पूँजी की आवश्यकताओं का कम पूर्वानुमान लगाकर व्यवसाय की आवश्यकताओं की अपेक्षा कम मात्रा में पूँजी एकत्रित करते हैं। ऐसी दशा में कम्पनी को काफी बड़ी राशि काफी ऊँची ब्याज की दरों पर उधार लेनी पड़ेगी। कम्पनी की आय का एक बड़ा भाग ब्याज का भुगतान करने में ही चला जाएगा और अंशधारियों के लिए बहुत कम आय बचेगी। इससे अंशों का बाजार मूल्य गिर जाएगा और कम्पनी अति-पूँजीकरण की दशा में आ जाएगी।

(8) **अपर्याप्त ह्रास** (Inadequate Depreciation) — यदि कोई कम्पनी सम्पत्तियों के ह्रास तथा प्रतिस्थापन के लिए पर्याप्त प्रावधान नहीं बनाती है तो कुछ समय पश्चात् सम्पत्तियों की लाभार्जन क्षमता घट जाती है जिससे कम्पनी की आय में गिरावट आ जाती है। यह भी अति-पूँजीकरण की ही स्थिति है।

(9) **उदार लाभांश नीति** (Liberal Dividend Policy) — कुछ कम्पनियाँ लाभों के एक हिस्से के पुन: विनियोजन (Ploughing back a part of profits) की बजाय अत्यधिक ऊँची दर से लाभांश

वितरण करना अधिक पसंद करती हैं। ऐसी कम्पनियाँ पुरानी और अप्रचलित सम्पत्तियों के पुनः स्थापन के हेतु पर्याप्त कोष जुटाने में असमर्थ रहती हैं। इसके अतिरिक्त, इन कम्पनियों को आवश्यकता पड़ने पर बहुत ऊँची ब्याज की दर पर ₹ उधार लेना पड़ता है जिससे इनकी आय कम हो जाती है और अति-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(10) **करों की ऊँची दर** (High Rate of Taxation) – यदि करों की दर ऊँची है तो इससे कम्पनी के पास काफी कम लाभ बच पाते हैं जो कि संचयों के निर्माण और लाभांश के वितरण के लिए पर्याप्त नहीं होते। इससे अति-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अति-पूँजीकरण के प्रभाव

(Consequences of Over-Capitalisation)

अति-पूँजीकरण का कम्पनी पर, अंशधारियों पर और पूरे समाज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके निम्नलिखित प्रभाव होते हैं :

(क) **कम्पनी पर प्रभाव** (Effects on the Company) – अति-पूँजीकरण के कम्पनी पर बहुत ही बुरे प्रभाव पड़ते हैं जो निम्नलिखित हैं :

(*i*) **ख्याति तथा साख की हानि** (Loss of Goodwill and Credit Worthiness) – एक अति-पूँजीकृत कम्पनी में लाभोपार्जन क्षमता कम होने के कारण या तो लाभांश बिल्कुल ही समाप्त हो जाते हैं या कम हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप विनियोक्ताओं का ऐसी कम्पनी में विश्वास समाप्त हो जाता है जिससे कम्पनी की ख्याति और साख में गिरावट आती है।

(*ii*) **अतिरिक्त कोष प्राप्त करने में कठिनाई** (Difficulty in raising Additional Funds) – अति-पूँजीकरण वाली कम्पनियों को अपने विकास एवं विस्तार के लिए पर्याप्त कोष प्राप्त करने में काफी कठिनाई आती है। व्यापारिक बैंक भी ऐसी कम्पनियों को इनकी कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं के लिए अल्प-कालीन ऋण देने में संकोच करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(*iii*) **कम्पनी की कार्यकुशलता में गिरावट** (Decline in Efficiency of the Company) – आय कम होने के कारण एक अति-पूँजीकृत कम्पनी ह्रास तथा नवीनीकरण के लिए पर्याप्त प्रावधान नहीं बना पाती। कोषों की कमी के कारण यह अपनी पुरानी मशीनों के प्रतिस्थापन करने में असमर्थ रहती है जिससे कि प्रतिस्पर्धात्मक लागत पर अच्छी किस्म का माल उत्पादित करने में असफल हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप यह अपने प्रतिद्वन्दियों से पिछड़ जाती है और उन्हें अपने बाजार खो देती है।

(*iv*) **ब्याज के भुगतान में कठिनाई** (Difficulty in the Payment of Interest) – ऐसी संस्थाएँ प्रायः ब्याज और मूलधन के नियमित भुगतान करने में असफल रहती हैं। ऐसी दशा में ऋणदाता कम्पनी के समापन की माँग कर सकते हैं।

(*v*) **अधिक लाभ दिखाने के लिए खातों में गड़बड़ी** (Manipulation of Accounts to show Inflated Profits) – अति-पूँजीकृत कम्पनियाँ अपने विनियोक्ताओं का खोया हुआ विश्वास पुनः प्राप्त करने के लिए खातों में गड़बड़ी करके बढ़े हुए लाभ दिखाने की कोशिश करती हैं। यह बढ़े हुए लाभ ऊँची दर पर लाभांश देने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। वास्तव में, ऐसे लाभांश पूँजी में से ही दिए जाते हैं और इसके कारण पूँजी में हुई कमी को पूरा करने के लिए कम्पनी और अधिक मात्रा में ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेती है जिससे स्थिति और भी अधिक खराब हो जाती है।

(*vi*) **कम्पनी का समापन** (Liquidation of Company) – यदि अंश पूँजी को पुनर्गठित करने के लिए कठोर कदम न उठाए जाएँ तो प्रायः एक अतिपूँजीकृत कम्पनी का समापन ही करना पड़ता है। पुनर्गठन से कम्पनी की ख्याति को और भी हानि पहुँचती है।

(ख) **अंशधारियों पर प्रभाव** (Effects on Shareholders) – अंशधारी, क्योंकि कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं अतः अति-पूँजीकरण के कारण उन्हें ही सबसे अधिक हानि होती है :

(*i*) **कम लाभांश** (Lower Dividends) – कम आय के कारण अंशधारियों को कम दर से लाभांश प्राप्त होता है और यह भी हमेशा निश्चित और नियमित नहीं होता।

(*ii*) **अंशों के बाजार मूल्य में गिरावट** (Fall in the Market Value of Shares) – कम आय और कम दर से लाभांश के कारण अंशों के बाजार मूल्य में गिरावट आ जाती है। इन अंशों के बेचने पर अंशधारियों को काफी हानि होती है।

(*iii*) **समर्थक प्रतिभूति के रूप में स्वीकार्य नहीं** (Unacceptable as Collateral Security)– क्योंकि अंशों के मूल्य में काफी गिरावट आ जाती है अतः अंशधारियों को ऐसे अंशों की जमानत पर ऋण लेने में काफी कठिनाई आती है। बैंक एवं वित्तीय संस्थाएँ ऐसे अंशों की जमानत पर ऋण देने में हिचकिचाती हैं।

(*iv*) **सट्टेबाजी से हानि** (Loss on Speculation) – अति-पूँजीकृत कम्पनियों के अंशों के कम मूल्य के कारण इनमें सट्टेबाजी होती रहती है जिससे इनके मूल्यों में लगातार उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इससे वास्तविक विनियोक्ताओं को हानि पहुँचती है।

(*v*) **पुनर्गठन से हानि** (Loss on Re-organisation) – प्रायः अति-पूँजीकृत कम्पनियों का पुनर्गठन करना पड़ता है और ऐसा पुनर्गठन संचित हानियों को समाप्त करने के उद्देश्य से पूँजी में कटौती करके किया जाता है। पूँजी में कटौती का अर्थ है अंशों के अंकित मूल्य में कमी, जो कि अंशधारियों के लिए हानि है।

(ग) **समाज पर प्रभाव** (Effects on Society) – अति-पूँजीकरण के पूरे समाज पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। यह प्रभाव निम्नलिखित हो सकते हैं।

(*i*) **उपभोक्ताओं को हानि** (Loss to Consumers) – अति-पूँजीकृत संस्थाएँ अपनी आयों में गिरावट की प्रवृत्ति को रोकने का हर सम्भव प्रयास करती हैं। वह अपनी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि करने और उनकी किस्म में कमी करने का प्रयास करती हैं। इससे उपभोक्ताओं को हानि पहुँचती है क्योंकि उन्हें निम्न किस्म की वस्तुओं के लिए अधिक कीमत चुकानी पड़ती है।

(*ii*) **कर्मचारियों को हानि** (Loss to Workers) – अति-पूँजीकृत संस्थाएँ लागतों में कमी करने के उद्देश्य से कर्मचारियों की मजदूरी कम कर देती हैं और उन्हें दी गई सुविधाएँ वापिस ले लेती हैं। संस्था में छँटनी होने और इसके बन्द होने के कारण कर्मचारियों को नौकरी से भी हाथ धोना पड़ता है।

(*iii*) **समाज के साधनों का दुरुपयोग** (Misutilisation of Society's Resources) – एक अति-पूँजीकृत संस्था समाज के दुर्लभ साधनों का दुरुपयोग अथवा अल्प-उपयोग करती है। इन्हीं साधनों का उन संस्थाओं द्वारा श्रेष्ठ उपयोग किया जा सकता है जिन्हें इनकी अधिक आवश्यकता है।

(*iv*) **आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव** (Adverse effect on Economic Development) – एक अति-पूँजीकृत संस्था क्योंकि प्रतिस्पर्द्धा का सामना नहीं कर पाती है अतः इसे बन्द करना पड़ता है। इससे विनियोक्ताओं को पूँजीगत हानि उठानी पड़ती है और इसी प्रकार से कुछ और संस्थाओं के भी बन्द होने से एक घबराहट और भय की लहर फैल जाती है। ऐसे वातावरण में कोई भी मनुष्य अपनी मेहनत की कमाई को औद्योगिक प्रतिभूतियों में विनियोग करना पसंद नहीं करता। इससे औद्योगिकरण तथा आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(*v*) **मन्दी** (Recession) – अति-पूँजीकरण के कारण वस्तुओं की किस्म में गिरावट आती है, मजदूरी की दरों में कमी आती है, श्रमिकों की छँटनी और बेरोजगारी बढ़ती है और श्रमिक वर्ग की क्रय शक्ति का ह्रास होता है। यह स्थिति सारे उद्योग पर बुरा प्रभाव डालती है और इससे अर्थव्यवस्था में मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

अति-पूँजीकरण के उपाय
(Remedies for Over-Capitalisation)

अति-पूँजीकरण के दुष्परिणाम इतने गंभीर होते हैं कि प्रबंधकों को जैसे ही अति-पूँजीकरण के लक्षण दिखाई पड़ते हैं उन्हें इस स्थिति को सुधार करने के तुरंत उपाय करने चाहिए। अति-पूँजीकरण की स्थिति को निम्नलिखित उपायों द्वारा सुधारा जा सकता है :

(1) **दीर्घ-कालीन ऋणों में कमी** (Reduction in Long-term Debts) – यह सुझाव दिया जाता है कि अति-पूँजीकरण वाली संस्थाओं को अपने पूँजीकरण को लाभोपार्जन क्षमता के अनुसार लाने के लिए अपने दीर्घ-कालीन ऋणों में कमी करनी चाहिए। परन्तु यह उपाय व्यवहारिक प्रतीत नहीं होता क्योंकि ऋणों का भुगतान करने के लिए अतिरिक्त धनराशि की आवश्यकता पड़ती है जिसे संचित आय से अथवा नए अंशों के निर्गमन से प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि ऐसी संस्थाओं के लाभ बहुत ही कम होते हैं अत: इनके पास संचित आय भी नहीं होगी। इन्हें नए अंश निर्गमित करने में भी काफी कठिनाई आएगी क्योंकि इन संस्थाओं की अल्प आय के कारण जनता इनके अंश खरीदने के लिए आवेदन नहीं करेगी।

(2) **ऋणपत्रों पर ब्याज की दर में कमी** (Reduction of Rate of Interest on Debentures)– यह भी सुझाव दिया जाता है कि अति-पूँजीकरण वाली कम्पनियों को अपनी आय की स्थिति में सुधार करने के लिए ऋणपत्रों पर ब्याज की दर में कमी कर देनी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए वर्तमान ऋणपत्रधारियों को इस बात के लिए सहमत करना पड़ता है कि वह अपने पुराने ऋणपत्रों के बदले कम ब्याज वाले नये ऋणपत्र स्वीकार कर लें। उन्हें नए ऋणपत्र लेने के लिए सहमत करने के लिए नये ऋणपत्र कटौती पर निर्गमित करने पड़ते हैं। अत: यह उपाय भी प्रभावपूर्ण नहीं है।

(3) **ऊँचे लाभांश वाले पूर्वाधिकार अंशों का शोधन** (Redemption of High Dividend Preference Shares) – यह सुझाव दिया जाता है कि ऊँचे लाभांश दर वाले पूर्वाधिकार अंशों का शोधन कर दिया जाए जिससे कि समता अंशों के लिए उपलब्ध लाभों में वृद्धि हो सके और इससे समता अंशों के मूल्य में वृद्धि हो जाए। परन्तु यह उपाय भी अधिक उपयोगी नहीं है क्योंकि पूर्वाधिकार अंशों की पूँजी का भुगतान करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ेगी जिसे प्राप्त करना काफी कठिन होगा।

(4) **अंशों के सम-मूल्य में कमी** (Reduction in Par Value of Shares) – कभी-कभी अति-पूँजीकरण की स्थिति को अंशों के सम-मूल्य में कमी करके सुधार किया जाता है। इसे पूँजी का पुनर्गठन (Reorganisation) कहा जाता है। मान लीजिए कि एक कम्पनी के 100₹ वाले 10,000 समता अंश हैं और इसकी वार्षिक आय 60,000₹ है। इस प्रकार इस कम्पनी की विनियोजित पूँजी पर आय 6% है। अब, यदि कम्पनी अपने अंशों के मूल्य में 50% कमी कर देती है, तो विनियोजित पूँजी पर आय की दर 6% से बढ़कर 12% हो जाएगी। यह एक श्रेष्ठ विधि है बशर्ते कि समता अंशधारी इस पर अपनी सहमति दे दें।

(5) **अंशों की संख्या में कमी** (Reduction in the Number of Shares) – अंशों की संख्या में कमी करके भी अति-पूँजीकरण की स्थिति में सुधार किया जा सकता है। मान लीजिए, एक कम्पनी 10₹ वाले 50,000 अंशों से पूँजीकृत है। यदि प्रबंधक यह निर्णय करते हैं कि 5 पुराने अंशों के बदले 10₹ वाला 1 नया अंश निर्गमित किया जाए तो अंशों की संख्या घटकर 10,000 रह जाएगी और पूँजीकरण की राशि 5,00,000₹ से घटकर 1,00,000₹ रह जाएगी। इससे कम्पनी को अपनी प्रति अंश आय में वृद्धि करने में सहायता मिलेगी और इसके अंशों के बाजार मूल्य में भी वृद्धि हो जाएगी। यह विधि भी, उपरोक्त विधि की तरह, एक श्रेष्ठ विधि है बशर्ते कि अंशधारी इस पर अपनी सहमति दे दें।

(6) **लाभों का पुनर्विनियोग** (Ploughing Back of Profits) – यदि अति-पूँजीकरण अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है तो कम्पनी को अपने लाभों को लाभांश के रूप में वितरण न करके व्यवसाय में

ही पुनर्विनियोग करना चाहिए। इससे व्यवसाय की लाभोपार्जन क्षमता में वृद्धि होगी और अति-पूँजीकरण की समस्या हल हो जाएगी।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यदि अति-पूँजीकरण प्रारम्भिक अवस्था में है तो इसके लिए लाभों का पुनर्विनियोजन सबसे श्रेष्ठ उपाय है परन्तु यदि अति-पूँजीकरण की स्थिति काफी गंभीर है तो इसे केवल अंशों के सम-मूल्य में कमी करके अथवा अंशों की संख्या में कमी करके ही सुधारा जा सकता है। प्रबंधकों को इन उपायों की उपयोगिता के बारे में अंशधारियों को विश्वास दिलाना चाहिए।

अल्प-पूँजीकरण
(Under-Capitalisation)

अल्प-पूँजीकरण से आशय पूँजी की कमी अथवा अपर्याप्तता से नहीं है। इससे आशय अति-पूँजीकरण की विपरीत स्थिति से होता है। **गेस्टनबर्ग के अनुसार :**

"एक निगम उस समय अल्प-पूँजीकृत हो सकता है जबकि इसके द्वारा कुल पूँजी पर अर्जित की गई लाभ की दर, उसी उद्योग में संलग्न अन्य वैसी ही कम्पनियों की तुलना में, अत्यधिक ऊँची है, अथवा इसके पास व्यवसाय करने के लिए बहुत अल्प पूँजी है।"[1]

साधारण शब्दों में, अल्प-पूँजीकरण एक ऐसी स्थिति है जिसमें कम्पनी की पूँजी अथवा साधनों का अत्यधिक कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है। परिणामस्वरूप कम्पनी इसमें विनियोजित पूँजी पर निरन्तर असामान्य रूप से अत्यधिक आय अर्जित करने में सफल हो जाती है। ऐसी कम्पनी प्रचलित दर से अधिक दर पर लाभांश घोषित करती है तथा इसके अंशों का बाजार मूल्य उनके पुस्तकीय मूल्य से अधिक हो जाता है। अतः अल्प-पूँजीकरण कम्पनी की सुदृढ़ वित्तीय स्थिति एवं कुशल प्रबंध का प्रतीक है।

अल्प-पूँजीकरण के कारण
(Causes of Under-Capitalisation)

अल्प-पूँजीकरण के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(1) **पूँजी की आवश्यकता का कम अनुमान** (Under-estimation of Capital Requirements)– प्रर्वतन के समय प्रवर्तकों द्वारा कम्पनी की पूँजी की आवश्यकताओं का कम अनुमान लगाया जा सकता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि बाद में जब अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है तो कम्पनी में अल्प-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(2) **आय का कम अनुमान** (Under-estimation of Earnings) – कभी-कभी, प्रवर्तन के समय कम्पनी की सम्भावित आय का न्यून अनुमान लगा लिया जाता है और उसके आधार पर कम्पनी का पूँजीकरण कर लिया जाता है। यदि बाद में यह पता लगता है कि वास्तविक आय सम्भावित आय से काफी अधिक है तो कम्पनी के लिए अल्प-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(3) **प्रवर्तन के समय आय की दर का अधिक अनुमान** (Over-estimation of Rate of Return at the time of Promotion) – कभी-कभी एक संस्था अपनी सम्भावित आय का तो सही अनुमान लगा लेती है परन्तु आय की दर (अर्थात् पूँजीकरण की दर) का अधिक अनुमान लगा लेती है। उदाहरण के लिए, यदि एक कम्पनी की आय का अनुमान 60,000₹ लगाया गया और आय की दर 15%

---

[1] "A corporation may be under-capitalised when the rate of profits, it is making on total capital is exceptionally high in relation to the return enjoyed by similarly situated companies in the same industry, or when it has too little capital with which to conduct its business". — *Grestenberg*

अनुमानित की गई। इस दर के आधार पर पूँजीकरण की मात्रा 4,00,000₹ (अर्थात् 60,000 × $\frac{100}{15}$) निर्धारित की गई। तत्पश्चात् ज्ञात हुआ कि वास्तविक दर 10% है और इसलिए पूँजीकरण की मात्रा 6,00,000₹ (अर्थात् 60,000 × $\frac{100}{10}$) होनी चाहिए थी। इस प्रकार, कम्पनी 2,00,000₹ से अल्प-पूँजीकृत है।

(4) **मन्दीकाल में कम्पनी का प्रवर्तन** (Promotion of the Company During Deflation)– जिन कम्पनियों की स्थापना मन्दीकाल में की जाती है वह मन्दीकाल के समाप्त होने पर अल्प-पूँजीकरण की स्थिति में आ जाती हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो, मन्दीकाल में सम्पत्तियाँ ऐसे मूल्यों पर क्रय कर ली जाती है जो उनको उपार्जन क्षमता से काफी कम होता है। दूसरे, मन्दीकाल में स्थापित कम्पनियाँ आय का कम अनुमान लगाती हैं जिसके आधार पर पूँजीकरण की मात्रा भी कम निर्धारित की जाती है परन्तु मन्दीकाल समाप्त होने पर कम्पनी की आय में वृद्धि होती है जिससे कम्पनी अल्प-पूँजीकृत हो जाती है।

(5) **लाभांश की संकीर्ण नीति** (Conservative Dividend Policy) – कुछ कम्पनियाँ कम दर से लाभांश वितरण करने और लाभों के एक बड़े हिस्से को पुनर्विनियोजन करने की नीति अपनाती हैं। यह प्रतिस्थापन, नवीनीकरण तथा विस्तार के लिए अत्यधिक मात्रा में कोषों का निर्माण कर लेती हैं। इस नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी की आय में काफी वृद्धि हो जाती है जो कि अल्प-पूँजीकरण की स्थिति का प्रतीक है।

(6) **कार्यकुशलता का ऊँचा स्तर** (High Level of Efficiency) – एक ऐसी कम्पनी जिसका प्रबंध बहुत कुशल है, पूँजी की मात्रा काफी कम होने पर भी ऊँची कार्यकुशलता से कार्य कर सकती है। कुछ समय उपरान्त ऐसी कम्पनी की लाभोपार्जन क्षमता बढ़ जाती है और यह अल्प-पूँजीकृत हो जाती है।

(7) **नियन्त्रण बनाए रखने की इच्छा** (Desire to Retain Control) – कुछ कम्पनियों में प्रवर्तक, कम्पनी के प्रबंध पर पूर्ण नियन्त्रण बनाए रखने की इच्छा रखते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कम संख्या में अंश निर्गमित करते हैं जिससे कि वह समस्त अंश स्वयं ही क्रय कर सकें। इससे अल्प-पूँजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(8) **पूँजी एकत्रित करने में कठिनाई** (Difficulty in Raising Capital) – कभी-कभी प्रवर्तक आवश्यक मात्रा में पूँजी एकत्रित करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। परन्तु फिर भी वह कम्पनी प्रारम्भ कर देते हैं और इसे अधिकांशतया: अल्प-कालीन ऋणों की सहायता से चलाते रहते हैं। यह अल्प-पूँजीकरण की स्थिति है।

अल्प-पूँजीकरण के प्रभाव
(Effects of Under-Capitalisation)

(क) **कम्पनी पर प्रभाव** (Effects on the Company) – अल्प-पूँजीकरण के कम्पनी पर निम्नलिखित दुष्प्रभाव पड़ते हैं :

(*i*) **प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि** (Increase in Competition) – अल्प-पूँजीकृत कम्पनियों की लाभ की ऊँची दर अधिकाधिक व्यावसायियों को उसी प्रकार के व्यवसाय की तरफ आकर्षित करती है जिससे प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि होती है। इससे अल्प-पूँजीकृत कम्पनी के लाभों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

(*ii*) **करों की दर में वृद्धि** (Increase in Rate of Taxes) – अल्प-पूँजीकरण वाली कम्पनियों को अधिक लाभ के कारण ऊँची दर से आयकर देना पड़ता है जिससे करों के बोझ में काफी वृद्धि होती है

(*iii*) **सरकारी हस्तक्षेप में वृद्धि** (Increase in Government Interference) – अत्यधिक लाभों के कारण सरकारी हस्तक्षेप एवं नियन्त्रण की सम्भावना में वृद्धि होती है।

(*iv*) **अंशों की विपणन योग्यता सीमित होना** (Limited Marketability of Shares) – ऐसी कम्पनियों के अंशों के ऊँचे बाजार मूल्य के कारण इन अंशों की विपणन योग्यता सीमित हो जाती है। विपणन योग्यता सीमित होने के कारण इन अंशों का मूल्य उतना ऊँचा नहीं हो पाता जितना कि इनकी आय के अनुसार होना चाहिए।

(*v*) **कर्मचारियों की माँगों में वृद्धि** (Rise in Workers' Demands) – लाभों में वृद्धि के कारण कर्मचारी भी मजदूरी और बोनस में वृद्धि की माँग करने लगते हैं। यदि उनकी माँगें न मानी जाएँ तो उनमें असंतोष बढ़ता है जिससे नियोक्ताओं और कर्मचारियों के संबंध खराब होते हैं।

(*vi*) **उपभोक्ताओं में असंतोष** (Dis-satisfaction among Customers) – लाभ की ऊँची दर के कारण उपभोक्ता यह महसूस करने लगते हैं कि कम्पनी अधिक लाभ कमाने के लिए उनसे ऊँचे मूल्य वसूल करके उनका शोषण कर रही है। वह मूल्य कम कराने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की माँग करने लगते हैं।

(*vii*) **प्रबंधकों द्वारा गड़बड़ी** (Manipulation by Management) – अल्प-पूँजीकरण के कारण, वास्तविक लाभ से अधिक या कम लाभ दिखाकर, प्रबंधक कम्पनी के अंशों के मूल्य में कृत्रिम रूप से उतार-चढ़ाव लाने के लिए प्रेरित होते हैं।

(ख) **अंशधारियों पर प्रभाव** (Effects on Shareholders) – अल्प-पूँजीकरण के अंशधारियों पर निम्न अच्छे प्रभाव पड़ते हैं :

(*i*) **लाभांश की ऊँची दर** (High Rate of Dividend) – अल्प-पूँजीकृत कम्पनियों के अंशधारियों को नियमित रूप से ऊँची दर से लाभांश प्राप्त होता रहता है।

(*ii*) **अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि** (Increase in the Market Value of Shares) – आय की ऊँची दरों के कारण इन कम्पनियों के अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि हो जाती है और अंशधारियों को इन अंशों के विक्रय से लाभ होता है।

(*iii*) **ऋण प्राप्त करने में आसानी** (Easy Availability of Loan) – ऐसी कम्पनी के अंशधारियों को इन अंशों की जमानत पर आसानी से ऋण उपलब्ध हो जाता है।

(ग) **समाज पर प्रभाव** (Effects on Society) – अल्प-पूँजीकरण समाज के लिए वरदान सिद्ध होता है :

(*i*) **औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Industrial Production) – लाभ की ऊँची दरों के कारण वर्तमान इकाइयों को विस्तार करने का प्रोत्साहन मिलता है और नये उद्यमी भी नई इकाइयाँ स्थापित करते हैं। इससे औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होती है।

(*ii*) **उपभोक्ताओं को लाभ** (Advantage to Consumers) – वर्तमान इकाइयों के विस्तार और नये उद्यमों के स्थापित होने से उपभोक्ताओं को विभिन्न किस्म की वस्तुएँ उचित मूल्यों पर मिलती हैं।

(*iii*) **रोजगार में वृद्धि** (Increase in Employment) – नई-नई इकाइयों की स्थापना और वर्तमान व्यवसायों के विस्तार के कारण रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है।

(*iv*) **आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव** (Positive effect on Economic Development)– रोजगार के अवसरों में वृद्धि होने से आय में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप माँग में वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप विनियोग और उत्पादन में वृद्धि होती है जिससे आर्थिक विकास की गति बढ़ती है।

अल्प-पूँजीकरण के उपाय
(Remedies for Under-Capitalisation)

अल्प-पूँजीकरण को निम्नलिखित उपायों द्वारा ठीक किया जा सकता है :

(*i*) **बोनस अंशों का निर्गमन** (Issue of Bonus Shares) – यदि कम्पनी के पास पर्याप्त मात्रा में संचय और आधिक्य (Reserves and Surplus) हैं तो कम्पनी बोनस अंशों के वितरण द्वारा इनका पूँजीकरण कर सकती है। अल्प-पूँजीकरण की स्थिति को सुधारने का यह सबसे उपयोगी और प्रभावपूर्ण उपाय है क्योंकि बोनस अंशों के वितरण द्वारा अंशों की संख्या में वृद्धि हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप प्रति अंश लाभांश और प्रति अंश आय में कमी हो जाती है।

(*ii*) **नए अंशों का निर्गमन** (Issue of Fresh Shares) – यदि अल्प-पूँजीकरण की स्थिति पूँजी की कमी के कारण है तो इसे नये अंश निर्गमित करके सुधारा जा सकता है।

(*iii*) **अंशों का विभाजन** (Splitting of Shares) – अल्प-पूँजीकरण को ठीक करने का एक अन्य प्रभावशाली उपाय वर्तमान अंशों के सम-मूल्य को कम करके इन्हें अधिक संख्या के अंशों में विभाजन करना है। मान लीजिए, यदि किसी कम्पनी की अंश पूँजी 20₹ वाले 10,000 अंशों में विभाजित है और इसकी आय 80,000₹ है जो कि 8₹ प्रति अंश बैठती है। यदि प्रबंधक यह निर्णय करते हैं कि अंशों के सम मूल्य में 50% कमी करके उसी अनुपात में अंशों की संख्या में वृद्धि की जाए, तो विभाजन के पश्चात् नए अंशों की कुल संख्या 20,000 और सम-मूल्य 10₹ होगा। विभाजन के परिणामस्वरूप प्रति अंश आय घटकर 4₹ प्रति अंश (अर्थात् $\frac{80{,}000₹}{20{,}000}$) रह जाएगी। इसके कारण अंशों के बाजार मूल्य में कमी आ जाएगी जिसका विनियोक्ताओं पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा। अंशधारी भी इस प्रक्रिया का कोई विरोध नहीं करते हैं क्योंकि अंशों के विभाजन के बाद भी उन्हें पहले जितनी ही आय प्राप्त होती रहेगी।

अति-पूँजीकरण एवं अल्प-पूँजीकरण की तुलना
(Comparison of Over-Capitalisation and Under-Capitalisation)

उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि किसी कम्पनी के लिए अति-पूँजीकरण और अल्प-पूँजीकरण दोनों ही स्थितियाँ अवांछनीय हैं और इन दोनों में से किसी भी एक स्थिति को अच्छा नहीं कहा जा सकता। फिर भी, कम्पनी के लिए अल्प-पूँजीकरण की अपेक्षा अति-पूँजीकरण की स्थिति अधिक खतरनाक है। अति-पूँजीकरण के परिणामस्वरूप कम्पनी की आय में कमी आ जाती है जो कि कम्पनी, अंशधारियों तथा समाज, सभी के लिए हानिकारक है और कम्पनी का पुनर्गठन अथवा समापन करना पड़ता है। इसके विपरीत, अल्प-पूँजीकरण के परिणाम-स्वरूप कम्पनी की आय में वृद्धि होती है जिससे लाभांश की दर और अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि होती है जिसे बोनस अंशों के वितरण अथवा नए अंशों के निर्गमन द्वारा आसानी से सुधारा जा सकता है। अतः अल्प-पूँजीकरण को अपेक्षाकृत कम बुराई (Lesser Evil) कहा जा सकता है, फिर भी यह दोनों ही दोषपूर्ण हैं और जहाँ तक सम्भव हो सके, इन दोनों स्थितियों को ही हतोत्साहित किया जाना चाहिए। प्रत्येक कम्पनी का लक्ष्य 'संतुलित' अथवा 'उचित' पूँजीकरण की स्थिति कायम रखना होना चाहिए अर्थात् पूँजीकरण कम्पनी की सामान्य लाभोपार्जन क्षमता के अनुसार होना चाहिए। **गेस्टनबर्ग** के अनुसार, ''जहाँ तक अति-पूँजीकरण और अल्प-पूँजीकरण में तुलना का प्रश्न है, इन दोनों में से बाद वाला अपेक्षाकृत कम बुरा है; फिर भी दोनों को ही हतोत्साहित करना चाहिए तथा उचित पूँजीकरण का आदर्श अपनाना चाहिए'' (As between over and under-capitalisation, the latter is the lesser evil of the two, but still both should be discouraged and the ideal should be fair capitalisation'' — Grestenberg.)

जलयुक्त पूँजी (Watered Capital) :

जब किसी कम्पनी की अंश पूँजी का प्रतिनिधित्व उतनी ही राशि की सम्पत्तियों द्वारा नहीं होता, तो आधिक्य पूँजी को जलयुक्त पूँजी कहा जाता है। अन्य शब्दों में जलयुक्त पूँजी का अर्थ है कि कम्पनी की सम्पत्तियों का प्राप्य मूल्य (Realisable Value) उन सम्पत्तियों के पुस्तकीय मूल्य (Book Value) से कम है।

जलयुक्त पूँजी के कारण (Causes of Watered Capital) :

जलयुक्त पूँजी की समस्या प्राय: कम्पनी की स्थापना के समय उत्पन्न होती है। जलयुक्त पूँजी होने के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :

(i) जब कम्पनी की स्थापना (प्रवर्तन) के समय प्रवंतकों (Promoters) को उनकी सेवाओं के बदले बहुत अधिक संख्या में अंश दे दिए जाते हैं परन्तु कम्पनी उतनी आय अर्जित नहीं करती है कि उन अंशों का देना उचित ठहराया जा सके।

(ii) जब प्रवंतक जान-बूझकर कम्पनी की आवश्यकता की सम्पत्तियों को कम्पनी के लिए बहुत अधिक मूल्यों पर खरीद लेते हैं।

(iii) जब कम्पनी द्वारा अदृश्य सम्पत्तियाँ (Intangible Assets) जैसे कि एकस्व, कॉपीराईट, ख्याति आदि उच्च मूल्यों पर खरीद ली जाती हैं जबकि बाद में ये सम्पत्तियाँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं।

जलयुक्त पूँजी एवं अति-पूँजीकरण में अन्तर

(Difference between Watered Capital and Over-capitalisation)

कभी-कभी जलयुक्त पूँजी एवं अति पूँजीकरण शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किए जाते हैं। परन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। जलयुक्त पूँजी की दशा प्राय: कम्पनी की स्थापना के समय उत्पन्न होती है जबकि अति-पूँजीकरण उस समय उत्पन्न होता है जब कम्पनी अपनी पूँजी पर पर्याप्त आय अर्जित नहीं कर पाती है। अत: जलयुक्त पूँजी की स्थिति से बचने के लिए कम्पनी को अपनी स्थापना के समय सम्पत्तियों को उनके वास्तविक मूल्य (Real Worth) पर ही खरीदना चाहिए। यदि सम्पत्तियाँ उनके वास्तविक मूल्य से अधिक पर खरीदी जाती हैं अथवा वे निकट भविष्य में बेकार सिद्ध होती हैं तो कम्पनी की पूँजी जलयुक्त हो जाएगी। इसके विपरीत, अति-पूँजीकरण कम्पनी की उपार्जन क्षमता (Earning Capacity) पर निर्भर करता है। जब कम्पनी का संचालन कई वर्षों तक किया जा चुका है और इन वर्षों के दौरान कम्पनी अपनी पूँजी पर पर्याप्त आय अर्जित नहीं कर पाई है तो यह अति-पूँजीकरण की स्थिति में आ जाएगी। अत: जलयुक्त पूँजी और अति-पूँजीकरण दोनों बिल्कुल अलग-अलग अर्थों वाले शब्द हैं।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जलयुक्त पूँजी की स्थिति अतिपूँजीकरण का एक प्रमुख कारण बन सकती है। जबकि एक ऐसी कम्पनी जिसकी पूँजी स्थापना के समय जलयुक्त नहीं है वह भी बाद में जाकर अतिपूँजीकरण वाली कम्पनी बन सकती है।

उपरोक्त अन्तर को निम्नलिखित उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है :

विकास लिमिटेड ने 10₹ वाले 10,000 अंश निर्गमित किए और इस राशि का उपयोग 1,00,000₹ की स्थायी सम्पत्तियों को खरीदने के लिए किया। परन्तु कम्पनी की स्थापना के समय ही यह ज्ञात हो गया कि इन सम्पत्तियों का प्राप्त मूल्य (Realisable Value) केवल 75,000₹ ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि कम्पनी की 25,000₹ की पूँजी जलयुक्त हो गई है। परन्तु इस कम्पनी का अगले छह वर्षों तक सफलता पूर्वक संचालन होता रहा और इसने प्रतिवर्ष औसत रूप से 18,000₹ की आय अर्जित की। यदि इन आयों को 6% की दर से पूँजीकृत किया जाए तो इन आयों का पूँजीकृत मूल्य 3,00,000₹

लीवरेज

(Leverages)

लीवरेज का अर्थ

(Meaning of Leverage)

ीय प्रबन्ध में 'लीवरेज' शब्द का प्रयोग किसी फर्म की स्थिर लागत वाले दीर्घकालीन कोषों को र उपयोग करने की क्षमता से है जिससे कि इसके स्वामियों अर्थात समता अंशधारियों के प्रत्याय n) में वृद्धि हो सके।

म सी. वानहोर्ने के अनुसार, ''लीवरेज से आशय उस सम्पत्ति अथवा कोषों के विनियोजन से है लिए फर्म को स्थिर लागत अथवा स्थिर प्रत्याय देना होता है।'' अत: इनके अनुसार लीवरेज के होने का कारण है फर्म द्वारा किसी ऐसी सम्पत्ति में विनियोजन जिसकी स्थिर लागत है अथवा कोषों स्रोत से विनियोजन जिसकी प्रत्याय की दर स्थिर है चाहे विक्रय का स्तर (Level of Sales) अथवा न लाभ (Operating Profit) कितने भी हों। जब उत्पादन अथवा विक्रय की मात्रा में वृद्धि होती है र लागत की मौजूदगी समता अंशधारियों को उपलब्ध आय पर पर्याप्त प्रभाव डालती है।

र्म की कुल लागत को दो भागों में बाँट सकते हैं :

(i) परिवर्तनशील लागतें (Variable Costs), अथवा

(ii) स्थिर लागतें (Fixed Costs)।

परिवर्तनशील लागतें विक्रय की मात्रा के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं जबकि स्थिर लागतें रिवर्तित रहती हैं। अत: जब विक्रय की मात्रा बढ़ती है तो कुल लागत (अर्थात् परिवर्तनशील लागत + र लागत) विक्रय में वृद्धि की दर की तुलना में कम गति से बढ़ती है। स्थिर लागतें जितनी अधिक होंगी रेज भी उतनी ही अधिक होगी। यदि किसी फर्म को स्थिर लागतें अथवा स्थिर प्रत्याय नहीं चुकाना होता ो उस फर्म में कोई भी लीवरेज नहीं होगी।

लीवरेज की उच्च मात्रा (High degree) का अर्थ है कि विक्रय की मात्रा में थोड़े से भी परिवर्तन से ल में बहुत बड़ी मात्रा में परिवर्तन होगा। इसी प्रकार, लीवरेज की अल्प मात्रा (Low degree) का अर्थ कि विक्रय की मात्रा में बहुत अधिक परिवर्तन से भी आय में बहुत कम मात्रा में परिवर्तन होगा। परन्तु, च्च लीवरेज का अर्थ है बड़ी मात्रा में बाह्य स्रोतों से ऋण लेना जो कि फर्म की विक्रय की मात्रा में अचानक मी आ जाने पर काफी जोखिमपूर्ण होगा। अत: लीवरेज की मात्रा जितनी अधिक होगी, जोखिम भी उतना ी अधिक होगा और समता अंशधारियों का प्रत्याय (Return to Equity Shareholders) भी उतना ही अधिक होगा।

लीवरेज के प्रकार

(Types of Leverages)

लीवरेज तीन प्रकार की होती है :

(i) संचालन लीवरेज (Operating Leverage)

लीवरेज

(ii) वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage)

(iii) संयुक्त लीवरेज (Combined Leverage)

(i) **संचालन लीवरेज** (Operating Leverage): संचालन लीवरेज का अर्थ है संचालन लाभों का विक्रय की मात्रा में परिवर्तन की तुलना में अधिक गति से परिवर्तन होना। संचालन लीवरेज तब उत्पन्न होती है जब फर्म में ऐसी लागतें हैं जो स्थिर हैं चाहे विक्रय की मात्रा कितनी भी हो। दूसरे शब्दों में, स्थिर लागतें होने पर संचालन लाभों में प्रतिशत परिवर्तन विक्रय में प्रतिशत परिवर्तन की तुलना में अधिक होता है। इस प्रवृति को संचालन लीवरेज कहा जाता है। संचालन लीवरेज की मात्रा (Degree of Operating Leverage) परिवर्तनशील लागतों की तुलना में स्थिर लागतों के अनुपात पर निर्भर करती है। यदि स्थिर लागतों का अनुपात परिवर्तनशील लागतों की तुलना में अधिक है तो संचालन लीवरेज की मात्रा अधिक (Higher) होगी। इसके विपरीत, यदि स्थिर लागतों का अनुपात परिवर्तनशील लागतों की तुलना में कम है तो संचालन लीवरेज की मात्रा कम (Lower) होगी। संचालन लीवरेज की मात्रा अधिक होने पर विक्रय में वृद्धि की तुलना में संचालन लाभों में अधिक गति से वृद्धि होगी और इसी प्रकार संचालन लीवरेज की मात्र कम होने पर विक्रय में वृद्धि की तुलना में संचालन लाभों में कम गति से वृद्धि होगी।

संचालन लीवरेज की गणना (Computation of Operating Leverage) :

संचालन लीवरेज (Operating Leverage) की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है :

$$\text{Operating Leverage} = \frac{\text{Contribution (अंशदान)}}{\text{Operating Profit (संचालन लाभ)}}$$

$$\text{Contribution (अंशदान)} = \text{Sales} - \text{Variable Cost}$$

$$\text{Operating Profit (संचालन लाभ)} = \text{Sales} - \text{Variable Cost} - \text{Fixed Cost}$$

Operating profit here means "Earnings before interest and tax" (EBIT).

संचालन लीवरेज अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकती है। यदि अंशदान (अर्थात् विक्रय - परिवर्तनशील लागत) स्थिर लागत से अधिक है तो यह अनुकूल होगी और यदि अंशदान स्थिर लागत से कम है तो यह प्रतिकूल होगी।

संचालन लीवरेज की मात्रा (Degree of Operating Leverage) :

संचालन लीवरेज की मात्रा को विक्रय में हुए प्रतिशत परिवर्तन के परिणामस्वरूप संचालन लाभों में हुए प्रतिशत परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है :

$$\text{Degree of Operating Leverage} = \frac{\text{Percentage Change in Operating Profits}}{\text{Percentage Change in Sales}}$$

संचालन लीवरेज को निम्नलिखित उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है :

संचालन लीवरेज के परिणाम (Implications of Operating Leverage) :

संचालन लीवरेज जितनी अधिक होगी, विक्रय में परिवर्तन के फलस्वरूप उतने ही अधिक संचालन लाभों में उतार-चढ़ाव होंगे। उच्च संचालन लीवरेज की दशा में, यदि विक्रय में वृद्धि होती है तो संचालन लाभों में विक्रय वृद्धि की तुलना में अधिक अनुपात में वृद्धि होगी। इसके विपरीत, यदि विक्रय में कमी होती है तो संचालन लाभों में विक्रय में कमी की तुलना में अधिक अनुपात में कमी होगी। अतः उच्च संचालन लीवरेज का अर्थ है अत्यधिक विक्रय की दशा में अत्यधिक संचालन लाभ और विक्रय में अत्यधिक गिरावट की दशा में अत्यधिक संचालन हानि।

संचालन लीवरेज का महत्त्व (Significance of Operating Leverage) :

संचालन लीवरेज की मात्रा के विश्लेषण से वित्तीय प्रबंध को अनेक वित्तीय निर्णय लेने में सहायता प्राप्त होती है जैसे :

(i) **उत्पादन की एक उचित तकनीक का चुनाव** (Selection of an appropriate technology of production) : यदि कोई फर्म उत्पादन की एक स्वचालित तकनीक अपनाती है तो उसे स्थाई सम्पत्तियों में बहुत अधिक विनियोग करना पड़ता है। जिसके कारण इसकी स्थिर लागतें और परिणामस्वरूप संचालन लीवरेज भी उच्च होगी। इसके विपरीत, यदि कोई फर्म श्रम प्रधान तकनीक अपनाती है तो इसे स्थाई सम्पत्तियों में कम विनियोग करना पड़ता है जिसके कारण इसकी संचालन लीवरेज भी निम्न होगी। वित्तीय प्रबंध को उच्च संचालन लीवरेज (अर्थात् स्वचालित उत्पादन तकनीक) अथवा निम्न संचालन लीवरेज (अर्थात् श्रम प्रधान तकनीक) में चुनाव करना पड़ता है।

इन दोनों में चुनाव फर्म की भविष्य में विक्रय मात्रा (Sales Volume) पर निर्भर करता है। यदि फर्म को अधिक मात्रा में विक्रय की आशा है तो फर्म का संचालन उच्च संचालन लीवरेज के अन्तर्गत करना श्रेष्ठ होगा और परिणामस्वरूप फर्म स्वचालित उत्पादन तकनीक का चुनाव करेगी। इसके विपरीत, यदि विक्रय की कम मात्रा संभावित है तो फर्म का संचालन निम्न संचालन लीवरेज के अन्तर्गत करना ही उचित रहेगा और ऐसी फर्म को श्रम प्रधान तकनीक का चुनाव करना चाहिए।

(ii) **विक्रय मूल्य का निर्धारण** (Fixation of Selling Price) : एक उच्च संचालन लीवरेज वाली फर्म अपने उत्पाद को कम मूल्य पर भी बेच सकती है जिसका कारण है इसकी लागतों में प्रति इकाई कम परिवर्तनशील लागतों का होना। विक्रय मूल्य में कमी से विक्रय इकाइयों की संख्या में वृद्धि होती है जिससे विक्रय मूल्य में कमी से जो लाभों में गिरावट होती है उसकी पर्याप्त रूप से पूर्ति हो जाती है। परिणामस्वरूप, विक्रय मूल्य में कमी के बावजूद भी फर्म के लाभों में वृद्धि हो जाएगी।

(iii) **संचालन लाभ में परिवर्तन को समझने में उपयोगी** (Useful in understanding the Change in Operating profit) : संचालन लीवरेज का विश्लेषण विक्रय में परिवर्तन का फर्म के संचालन लाभ पर प्रभाव को समझने में भी उपयोगी है। एक फर्म जिसका संचालन लीवरेज उच्च है उसके विक्रय स्तर में थोड़े से भी परिवर्तन का इसके संचालन लाभों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। उच्च संचालन लीवरेज वाली फर्म के विक्रय में वृद्धि से इसके संचालन लाभों में काफी बड़ी वृद्धि होगी और विक्रय में कमी से संचालन लाभ समाप्त भी हो सकते हैं और संचालन हानि में भी परिवर्तित हो सकते हैं।

(iv) **व्यावसायिक जोखम का माप** (Measurement of Business Risk) : संचालन लीवरेज की मात्रा फर्म के व्यावसायिक जोखिम को मापने में भी सहायक है। व्यावसायिक जोखिम का सम्बन्ध संचालन लाभ में उतार-चढ़ाव से होता है। संचालन लीवरेज की मात्रा जितनी उच्च होगी, विक्रय में परिवर्तन के कारण संचालन लाभों की मात्रा में उतने ही अधिक उतार-चढ़ाव होंगे। अतः उच्च संचालन लीवरेज का अर्थ है उच्च व्यावसायिक जोखिम और कम संचालन लीवरेज का अर्थ है कम व्यावसायिक जोखिम।

त: किसी भी फर्म को उच्च संचालन लीवरेज के अन्तर्गत कार्य करने से बचना चाहिए क्योंकि इसमें धिक जोखिम अधिक होता है और विक्रय के स्तर में थोड़ी सी भी गिरावट से इसके संचालन लाभों धिक गिरावट आ सकती है। वस्तुत: फर्म को ऐसी संचालन लीवरेज के अन्तर्गत कार्य करना चाहिए विक्रय स्तर में गिरावट से हानि की सम्भावना कम से कम हो।

त्तीय लीवरेज (Financial Leverage) :

त्तीय लीवरेज फर्म की पूँजी संरचना में स्थिर ब्याज अथवा स्थिर पूर्वाधिकार लाभांश वाली तयों की मौजूदगी के कारण उत्पन्न होती है। अन्य शब्दों में, वित्तीय लीवरेज उत्पन्न होने का कारण ी पूँजी संरचना में समता पूँजी के साथ-साथ उन स्रोतों से पूँजी प्राप्त करना सम्मिलित है जिन पर स्थिर (Fixed Return) देना होता है जैसे कि ऋण एवं पूर्वाधिकार पूँजी। ऋण अथवा पूर्वाधिकार पूँजी पर थर प्रत्याय या स्थिर चार्ज में ब्याज तथा कर से पूर्व वाली आय (Earnings before interest and or EBIT) में परिवर्तन होने पर भी परिवर्तन नहीं होता। स्थिर चार्ज की एक निश्चित राशि चुकानी है चाहे EBIT की राशि कितनी ही हो। EBIT में से स्थिर चार्ज चुकाने के पश्चात् शेष आय समता ारियों के लिए उपलब्ध होती है।

वित्तीय लीवरेज को समता अंशधारियों के लिए उपलब्ध बची हुई आय में EBIT में परिवर्तन के त में परिवर्तन न होने की प्रवृति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, वित्तीय रेज EBIT में परिवर्तन होने पर शेष आय (Residual net income) में परिवर्तन को सूचित करती है। निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

$$\text{Financial Leverage} = \frac{\text{Earning before interest \& tax (EBIT)}}{\text{Earning before tax (EBT)}}$$

EBT = EBIT – Fixed Interest Charges(1)

अनुकूल एवं प्रतिकूल वित्तीय लीवरेज (Favourable and unfavourable financial erage) : वित्तीय लीवरेज अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि र चार्ज वाली प्रतिभूतियों के प्रयोग से अर्जित की गई आय उन प्रतिभूतियों पर चुकाई जाने वाली स्थिर तं से अधिक है या नहीं। उदाहरण के लिए, यदि कोई कम्पनी 10% वार्षिक ब्याज पर 100₹ का ऋण ी है और इस पर 12% की आय उपार्जित करती है तो लीवरेज को अनुकूल कहा जाएगा। प्रतिकूल अथवा ात्मक लीवरेज उस समय उत्पन्न होती है जब फर्म ऋण की लागत से कम आय अर्जित करती है। कूल वित्तीय लीवरेज को 'समता पर व्यापार' (Trading on Equity) भी

वित्तीय लीवरेज का महत्त्व (Significance of Financial Leverage) :

(1) **कर से पूर्व आय में परिवर्तनों के समझने में सहायक** (Helpful in Understanding Changes in Earning before Tax or EBT) : वित्तीय लीवरेज ब्याज तथा कर से पूर्व आय (Earning before interest and tax or EBIT) में हुए परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कर से पूर्व आय (Earning before Tax or EBT) में हुए परिवर्तनों को समझने में सहायक है। उदाहरण के लिए, 2 वित्तीय लीवरेज का अर्थ है कि EBIT में 50% वृद्धि या कमी से EBT में 100% वृद्धि या कमी होगी।

(2) **फर्म की पूँजी संरचना का नियोजन** (Planning of Capital Structure for the Firm): पूँजी संरचना स्थिर लागत वाले कोषों तथा समता पूँजी दोनों स्रोतों से दीर्घकालीन वित्त प्राप्त करने से संबंधित है। वित्तीय लीवरेज वित्तीय प्रबंधक को स्थिर लागत वाले कोषों तथा समता पूँजी में एक उचित अनुपात स्थापित करने में सहायक है। उच्च वित्तीय लीवरेज से आशय है उच्च वित्तीय लागत एवं उच्च वित्तीय जोखिम। एक वित्तीय प्रबंधक को पूँजी की संरचना इस प्रकार से करनी चाहिए कि फर्म अपनी स्थिर वित्तीय लागतों को पूरा करने की स्थिति में हो।

(3) **वित्तीय जोखिम का माप** (Measurement of Financial Risk) : वित्तीय लीवरेज वित्तीय जोखिम को मापने में सहायक है। उच्च वित्तीय लीवरेज का अर्थ है उच्च स्थिर वित्तीय लागतें और परिणामस्वरूप उच्च वित्तीय जोखिम। इसी प्रकार निम्न वित्तीय लीवरेज का अर्थ है निम्न स्थिर वित्तीय लागतें और परिणामस्वरूप निम्न वित्तीय जोखिम। वित्तीय जोखिम से आशय है फर्म का अपनी स्थिर वित्तीय लागतों को पूरा न कर पाने का जोखिम। यदि कोई फर्म अपनी स्थिर वित्तीय लागतों का भुगतान नहीं कर पाती है तो इसका समापन भी करना पड़ सकता है।

(4) **लाभ नियोजन** (Profit Planning) : वित्तीय लीवरेज की मात्रा से फर्म की प्रति अंश आय (Earning Per Share or EPS) प्रभावित होती है। यदि फर्म की ब्याज तथा कर से पूर्व आय (Earning before interest and tax or EBIT) में भविष्य में वृद्धि होने की सम्भावना है तो उच्च वित्तीय लीवरेज से फर्म की प्रति अंश आय (EPS) में वृद्धि हो सकती है। इसके विपरीत, यदि फर्म की EBIT में भविष्य में कमी होने की सम्भावना है तो EPS में EBIT में कमी की गति से अधिक गति से गिरावट आएगी। अतः EBIT तथा EPS में परिवर्तनों का जो आपसी संबंध है उसका अध्ययन करने से फर्म भविष्य में EPS का नियोजन कर सकती है।

वित्तीय लीवरेज अथवा समता पर व्यापार की सीमाएँ (Limitations of Financial Leverage/Trading on Equity):

(i) **दो-धारी शस्त्र** (Double-edged Weapon) : वित्तीय लीवरेज दोहरी धार वाला शस्त्र है। इसका सफलतापूर्वक प्रयोग उसी दशा में किया जा सकता है जब फर्म की आय की दर फर्म की ब्याज तथा पूर्वाधिकार लाभांश की दर से अधिक हो। उदाहरण के लिए, यदि कोई फर्म 9% वार्षिक दर पर 100₹ ऋण लेती है और वह इसपर 12% आय उपार्जित करती है तो शेष 3₹ समता अंशधारियों के लिए उपलब्ध होंगे जिससे कि प्रति अंश आय (EPS) में वृद्धि हो जाएगी। परन्तु यदि फर्म 100₹ पर केवल 6% आय उपार्जित करती है तो समता अंशधारियों को 3₹ की हानि होगी जिसके परिणामस्वरूप EPS में गिरावट आ जाएगी।

(ii) **जोखिम तथा ब्याज दर में वृद्धि** (Increase in Risk and Rate of Interest) : अतिरिक्त ऋण लेते जाने से व्यवसाय के जोखिम में भी वृद्धि होती जाती है। परिणामस्वरूप अतिरिक्त ऋणों पर ब्याज दर भी बढ़ जाती है क्योंकि ऋणदाता अतिरिक्त ऋण पर अधिक ब्याज दर की माँग करने लगते हैं।

(iii) **आयों में उतार-चढ़ाव की दशा में हानिकारक** (Harmful in Case of Fluctuation in Earnings) : उच्च वित्तीय लीवरेज उन्हीं फर्मों के लिए लाभप्रद है जिसकी आय नियमित और स्थिर हो। इसका कारण यह है कि ऋणों पर ब्याज एक स्थाई प्रभार है और यदि फर्म की आय में गिरावट आ जाती है तो फर्म अपने स्थाई ब्याज के प्रभार को चुकाने की स्थिति में नहीं होगी।

(iv) **वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रतिबन्ध** (Restrictions from Financial Institutions) : जिन वित्तीय संस्थाओं ने फर्म को ऋण दिया हुआ है वह फर्म द्वारा अधिक वित्तीय लीवरेज करने की दशा में फर्म पर प्रतिबन्ध लगा सकती हैं। ऐसे प्रतिबन्ध बढ़े हुए जोखिम पर नियन्त्रण रखने तथा फर्म की पूँजी संरचना में संतुलन स्थापित करने के लिए लगाए जाते हैं।

संचालन लीवरेज और वित्तीय लीवरेज में अन्तर

अन्तर का आधार		संचालन लीवरेज (Operating Leverage)	वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage)
1.	अर्थ	संचालन लीवरेज से आशय संचालन लाभों का विक्रय की मात्रा में परिवर्तन की तुलना में अधिक गति से परिवर्तन होना है।	वित्तीय लीवरेज से आशय बची हुई शुद्ध आय का संचालन लाभों में परिवर्तन की तुलना में अधिक गति से परिवर्तन होना है।
2.	गणना	संचालन लीवरेज = $\frac{\text{Contribution}}{\text{Operating Profits(EBIT)}}$	वित्तीय लीवरेज = $\frac{\text{Earning before Interest \& Tax (EBIT)}}{\text{Earning before Tax (EBT)}}$
3.	कारण	संचालन लीवरेज होने का कारण है फर्म के पूँजी ढाँचे में स्थिर लागतों का होना।	वित्तीय लीवरेज होने का कारण है फर्म के पूँजी ढाँचे में स्थिर ब्याज अथवा स्थिर पूर्वाधिकार लाभांश वाली प्रतिभूतियों का होना है।

4.	महत्व	यह विक्रय में परिवर्तन के फलस्वरूप फर्म के संचालन लाभों के स्तर पर हुए परिवर्तन को समझने में सहायक है।	यह ब्याज एवं कर से पूर्व लाभों (EBIT) में परिवर्तन के फलस्वरूप कर से पूर्व लाभ (EBT) पर हुए परिवर्तन को समझने में सहायक है।
5.	व्यावसा-यिक/ वित्तीय जोखिम का माप	यह फर्म के व्यावसायिक जोखिम को मापने में सहायक है। व्यावसायिक जोखिम का सम्बन्ध संचालन लाभ में उतार-चढ़ाव से है।	यह फर्म के वित्तीय जोखिम को मापने में सहायक है। वित्तीय जोखिम का सम्बन्ध फर्म द्वारा अपनी स्थिर वित्तीय लागतों के पूरा न करने के जोखिम से है।

(iii) संयुक्त लीवरेज (Combined or Composite Leverage)

जैसा कि वर्णित किया गया है, संचालन लीवरेज विक्रय स्तर में परिवर्तनों से EBIT पर होने वाले प्रभाव को मापती है। अतः यह फर्म के व्यावसायिक जोखिम की मात्रा को प्रदर्शित करती है। वित्तीय लीवरेज EBIT में हुए परिवर्तनों के कर से पूर्व आय (Earning before Tax or EBT) पर प्रभाव को मापती है। अतः यह फर्म के वित्तीय जोखिम की मात्रा को प्रदर्शित करती है। यह दोनों लीवरेज फर्म की अपनी स्थिर लागतों (संचालन तथा वित्तीय दोनों) को पूरा करने की क्षमता से संबंधित हैं। यदि इन दोनों लीवरेज को इकट्ठा कर दिया जाए तो यह संयुक्त रूप से विक्रय स्तर में परिवर्तनों से EBT पर होने वाले प्रभाव को प्रदर्शित करेंगी।

अतः संयुक्त लीवरेज अंशदान (Contribution *i.e.* Sales less variable Cost) तथा कर से पूर्व आय (Earning before tax or EBT) के संबंधों को प्रदर्शित करती है। अन्य शब्दों में, यह Contribution में हुए परिवर्तनों के EBT पर प्रभाव को दर्शाती है। इसकी गणना निम्न प्रकार की जा सकती है :

$$\text{Combined Leverage} = \frac{\text{Contribution}}{\text{Earning before tax (EBT)}}$$

OR

$$\text{Combined Leverage} = \text{Operating Leverage} \times \text{Financial Leverage}$$

Degree of Combined Leverage may be calculated as follows :

$$\text{Degree of Combined Leverage} = \frac{\text{Percentage Change in EPS}}{\text{Percentage Change in Sales}}$$

संयुक्त लीवरेज का महत्त्व (Significance of Combined Leverage) :

(i) **प्रति अंश आय में परिवर्तनों को समझने में सहायक** (Helpful in Understanding Changes in Earning Per Share or EPS) : संयुक्त लीवरेज फर्म की EPS पर संचालन लीवरेज तथा वित्तीय लीवरेज के संयुक्त प्रभाव को प्रदर्शित करती है। अतः यह विक्रय में हुए परिवर्तनों के EPS पर होने वाले प्रभाव को समझाती है।

(ii) **कुल जोखिम का निर्धारण** (Assessment of Total Risk) : संयुक्त लीवरेज फर्म द्वारा उठाए गए कुल जोखिम को ज्ञात करने में सहायक है। यह संचालन जोखिम तथा वित्तीय जोखिम के संयुक्त रूप से EPS पर प्रभाव को प्रदर्शित करती है।

(iii) **संचालन तथा वित्तीय लीवरेज के उचित संयोजन को स्थापित करने में सहायक** (Helpful in Establishing a Proper Combination of Operating and Financial Leverage) : यदि फर्म की संचालन लीवरेज भी उच्च हो तथा वित्तीय लीवरेज भी उच्च हो तो फर्म के जोखिम में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। उच्च संचालन लीवरेज फर्म में ऐसी सम्पत्ति

16

प्रति अंश आय–ब्याज एवं कर से पूर्व आय विश्लेषण

(EPS-EBIT Analysis)

वित्तीय प्रबंध का एक प्रमुख उद्देश्य एक ऐसी पूँजी संरचना (Capital Structure) का निर्माण करना है जिससे कि फर्म की संभावित ब्याज एवं कर से पूर्व आय (Earning before Interest and Tax or EBIT) से अधिकतम प्रति अंश आय (Earning Per Share or EPS) प्राप्त हो सके। ऐसी बहुत सी फर्में हो सकती हैं जिनका EBIT का स्तर तो एक जैसा हो परन्तु इनका पूँजी ढाँचा विभिन्न होने पर इनकी EPS भी विभिन्न होगी। EBIT के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न वित्तीय व्यवस्था (पूँजी ढाँचे) के EPS पर प्रभाव को EBIT-EPS विश्लेषण कहा जाता है।

एक फर्म के पास अपने विनियोग प्रस्तावों के लिए विभिन्न स्त्रोतों से विभिन्न अनुपात में वित्त की व्यवस्था करने के लिए अनेक विकल्प होते हैं। जैसे कि, या तो यह (i) पूर्ण रूप से समता अंश पूँजी का प्रयोग कर सकती है, अथवा (ii) समता और ऋण के मिश्रण का प्रयोग कर सकती है अथवा (iii) समता, ऋण एवं पूर्वाधिकार पूँजी के विभिन्न अनुपात में मिश्रण का उपयोग कर सकती है। विभिन्न प्रकार के विभिन्न स्त्रोतों के मिश्रण का चुनाव ऐसा होना चाहिए जिससे कि EBIT के एक विशेष स्तर पर अधिकतम EPS सुनिश्चित हो।

Example : Suppose a firm has a capital structure exclusively comprising of equity shares amounting to ₹ 20,00,000 (in ₹ 100 shares). The firm now wishes to raise additional ₹ 20,00,000 for expansion. Suppose the firm has four alternative financial plans :

(A) It can raise the entire amount through equity capital.
(B) It can raise 50% through equity capital and 50% through 8% debentures.
(C) It can raise entire amount through 8% debentures.
(D) It can raise 50% through equity capital and 50% through 8% preference capital.

Assume that firm is expecting an EBIT of ₹ 6,00,000 p.a. after expansion and the tax rate is 40%.

Which financing plan should the firm select?

SOLUTION :

EPS under various financial plans

	Financing Plans			
	A	*B*	*C*	*D*
	₹	₹	₹	₹
EBIT	6,00,000	6,00,000	6,00,000	6,00,000
Less : Interest	—	80,000	1,60,000	—

Earnings before taxes	6,00,000	5,20,000	4,40,000	6,00,000
Less : Taxes @ 40%	2,40,000	2,08,000	1,76,000	2,40,000
Earnings after taxes	3,60,000	3,12,000	2,64,000	3,60,000
Less : Preference Dividend	—	—	—	80,000
Earnings available to Equity Shareholders (*a*)	3,60,000	3,12,000	2,64,000	2,80,000
Number of Shares (*b*)	40,000	30,000	20,000	30,000
Earning Per Share (EPS) (*a* ÷ *b*)	9	10.4	13.2	9.33

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि Financial Plan C सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह 13.2₹ की उच्चतम EPS प्रदान करती है। इसका कारण यह है कि Financial Plan C में पूर्ण रूप से ऋण सम्मिलित हैं और ऋणों के ब्याज पर कर की छूट प्राप्त है। लाभांश (Dividend) को लाभों का नियोजन (Appropriation of rofits) माना जाता है अत: लाभांश भुगतान पर कर की छूट प्राप्त नहीं होती है। इसका अर्थ है कि यदि एक कम्पनी 40% के कर ब्रेकिट में आती है और यह ऋणपत्रों पर 8% ब्याज का भुगतान करती है तो इसकी ास्तविक लागत केवल 4.8% (अर्थात 8 का 60%) ही आएगी। इसके विपरीत यदि 8% पूर्वाधिकार अंशों के माध्यम से कोष एकत्रित किए जाते हैं तो कोषों की लागत 8% ही रहेगी। अत: ऋणों द्वारा कोषों को कत्रित करना सस्ता पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप EPS में वृद्धि होती है।

परन्तु पूँजी ढाँचे में ऋण के अधिक मात्रा में उपयोग से फर्म के जोखिम में वृद्धि होती है क्योंकि ऋण ा भुगतान फर्म पर एक स्थायी बोझ है और विपरीत परिस्थितियों में यह कम्पनी के समापन का कारण बन कता है।

तालिका यह भी प्रकट करती है कि यद्यपि Plan B तथा D दोनों में ही समता (Equity) का हिस्सा मान अर्थात् 50% है फिर भी Plan D में EPS काफी कम है। Plan B तथा D में EPS में अन्तर इस कारण है कि ऋणों पर ब्याज में कर छूट प्राप्त है जबकि पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश पर ऐसी छूट प्राप्त नहीं है।

फर्म के पूँजी ढाँचे में ऋण का प्रयोग फर्म की EBIT की मात्रा और दिशा (Pattern) पर निर्भर करता । एक ऐसी फर्म जिसकी EBIT उच्च और नियमित है वह अपने पूँजी ढाँचे में ऋणों की अधिक मात्रा का योग कर सकती है जबकि एक ऐसी फर्म जिसकी EBIT न्यून और अनियमित है उसे अपने पूँजी ढाँचे में धिक मात्रा में ऋणों का उपयोग नहीं करना चाहिए। अत: एक अनुकूलतम वित्तीय योजना का चुनाव फर्म ी भविष्य की EBIT के संभावित स्तर पर निर्भर करता है। EBIT के एक विशेष स्तर पर कोई एक योजना कर्षक प्रतीत हो सकती है जबकि EBIT के किसी अन्य स्तर पर कोई अन्य वित्तीय योजना उपयुक्त हो कती है। EBIT के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न वित्तीय ढाँचे (अथवा वित्तीय योजनाओं) के EPS पर प्रभाव अध्ययन करने के लिए EBIT-EPS विश्लेषण का उपयोग किया जाता है।

उदासीनता बिन्दु/स्तर (Indifference Point/Level) :

उदासीनता बिन्दु/स्तर EBIT का वह स्तर है जिस पर दो वैकल्पिक वित्तीय योजनाओं की EPS समान हो। EBIT यदि इस स्तर से बढ़ जाए तो वित्तीय लीवरेज के लाभ बढ़ी हुई EPS के रूप में प्राप्त होने लगते हैं। अन्य शब्दों में, यदि EBIT का भावी स्तर EBIT के उदासीनता स्तर से अधिक होने की संभावना है तो वह वित्तीय योजना जिसमें स्थायी चार्ज वाले कोष होंगे (अर्थात् ऋण अथवा पूर्वाधिकार पूँजी) EPS की वृद्धि में सहायक होगी। इसके विपरीत, यदि EBIT का संभावित स्तर EBIT के उदासीनता स्तर से कम है तो वह वित्तीय योजना जिसमें समता पूँजी का उपयोग किया गया है EPS की वृद्धि में सहायक होगी।

Indifference level of EBIT can be obtained with the help of two methods :

(*a*) Algebraic Method, and

(*b*) Graphic Method

(*a*) **Algebraic Method :** According to algebraic method, the indifference level of EBIT can be ascertained as follows :

$$\frac{(\text{EBIT} - I_1)(1 - t) - PD_1}{N_1} = \frac{(\text{EBIT} - I_2)(1 - t) - PD_2}{N_2}$$

Where,

EBIT = Indifference level of Earnings before interest and taxes between the two alternative financing plans.

I_1 = Interest Charges in financing plan 1.

I_2 = Interest Charges in financing plan 2.

t = tax rate.

PD_1 = Preference Dividend in financing plan 1.

PD_2 = Preference Dividend in financing plan 2.

N_1 = Number of Equity Shares in financing plan 1.

N_2 = Number of Equity Shares in financing plan 2.

$$0.5\ \text{EBIT} = 5.40\ \text{Crores}$$

$$\text{EBIT} = \frac{5.40}{0.5} = ₹10.80\ \text{Crores}$$

वित्तीय सम-विच्छेद स्तर (Financial Break-Even Level) :

जब किसी फर्म का EBIT का स्तर फर्म के स्थिर वित्तीय व्ययों (अर्थात ब्याज और पूर्वाधिकार लाभांश) को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्र (just sufficient) ही है तो EBIT के इस स्तर को वित्तीय सम-विच्छेद स्तर कहा जाता है। उदाहरण के लिए Illustration 12 में Option 1 में वित्तीय सम-विच्छेद स्तर Zero है (क्योंकि इसमें वित्तीय चार्ज नहीं है) जबकि Option 2 का वित्तीय सम-विच्छेद स्तर 2.40 करोड़ ₹ है जो कि ब्याज व्ययों के बिल्कुल बराबर है। अतः यदि किसी फर्म ने केवल ऋण (पूर्वाधिकार अंश नहीं) ही उपयोग किए हुए हैं तो EBIT का वित्तीय सम-विच्छेद स्तर निम्न प्रकार होगा :

$$\text{Financial Break-even EBIT} = \text{Interest Charges.}$$

यदि फर्म ने ऋण तथा पूर्वाधिकार अंश पूँजी दोनों का उपयोग किया हुआ है तो इसके वित्तीय सम-विच्छेद EBIT की गणना ब्याज तथा पूर्वाधिकार लाभांश दोनों के द्वारा की जाएगी। क्योंकि सम-विच्छेद स्तर की गणना before tax की जाती है जबकि पूर्वाधिकार लाभांश का भुगतान After-tax लाभों में से किया जाता है अतः EBIT के सम-विच्छेद स्तर की गणना निम्न प्रकार की जाएगी :

$$\textbf{Financial Break-even EBIT} = \textbf{Interest Charges} + \frac{\textbf{Pref. Dividend}}{\textbf{1} - \textbf{t}}$$

For example, if a firm is having interest liability of ₹60,000 and preference dividend of ₹72,000 and tax rate is 40%, the financial break-even level of EBIT will be as follows :

$$\begin{aligned}\text{Financial Break-even EBIT} &= \text{Interest Charges} + \frac{\text{Pref. Dividend}}{1 - t}\\ &= 60{,}000 + \frac{72{,}000}{1 - 0.4}\end{aligned}$$

पूँजी ढाँचा
(Capital Structure)

पूँजी ढाँचे का अर्थ
(Meaning of Capital Structure)

पूँजी ढाँचे (Capital Structure) से आशय फर्म की कुल पूँजी में विभिन्न प्रकार के दीर्घ-कालीन वित्तीय स्रोतों के मध्य पारस्परिक अनुपात से है। दीर्घ-कालीन वित्तीय स्रोतों में स्वामी कोष (Proprietors Funds) तथा ऋण कोष (Borrowed Funds) शामिल किए जाते हैं। स्वामी कोषों में समता पूँजी, पूर्वाधिकार पूँजी, संचय एवं आधिक्य (अर्थात् संचित आय) तथा ऋण कोष में दीर्घ-कालीन ऋण जैसे कि वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिए गए ऋण तथा ऋणपत्र आदि सम्मिलित किए जाते हैं। पूँजी ढाँचे संबंधी निर्णय में यह निश्चित किया जाता है कि फर्म की कुल पूँजी में उपरोक्त स्रोतों में से प्रत्येक का कितना अनुपात होगा। अन्य शब्दों में, इन स्रोतों में से प्रत्येक से कितना-कितना वित्त इकट्ठा किया जाएगा। यह स्रोत **जोखिम** के संबंध में तथा संस्था के लिए इनकी **लागत** के संबंध में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ स्रोतों की लागत कम होती है परन्तु जोखिम अधिक होता है जबकि दूसरे स्रोतों की लागत अधिक होती है परन्तु जोखिम कम होता है। उदाहरण के लिए, ऋणपत्र सबसे कम लागत वाले वित्तीय साधन होते हैं (क्योंकि लाभांश की दर की तुलना में ब्याज की दर प्रायः कम होती है और ऋणपत्रों पर चुकाए गए ब्याज को करों की गणना करते समय लाभों में से घटाया जाता है) परन्तु ऋणपत्रों पर जोखिम बहुत अधिक होता है (क्योंकि इन पर ब्याज अवश्य चुकाना पड़ता है चाहे संस्था को लाभ हो या न हो और ये अपने ब्याज और मूलधन को पाने के लिए न्यायालय में जा सकते हैं)। दूसरी तरफ, समता अंश पूँजी वित्त का सबसे महँगा साधन है (क्योंकि समता अंशधारियों द्वारा वांछित दर ऋणपत्रों पर ब्याज तथा पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश से अधिक होती है) परन्तु समता पूँजी सबसे कम जोखिमपूर्ण साधन है (क्योंकि इन पर लाभांश देने और पूँजी लौटाने का भार नहीं होता)। पूर्वाधिकार अंश पूँजी, जोखिम और लागत को देखते हुए ऋणपत्रों और समता अंश पूँजी के बीच में पड़ती है।

वित्तीय साधनों का चयन करते समय वित्तीय प्रबंधक यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि जोखिम एवं पूँजी की लागत दोनों ही न्यूनतम हो। इस उद्देश्य के लिए उसे निम्न प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं:

समता अंश पूँजी के निर्गमन द्वारा कितनी राशि इकट्ठी करनी है?
पूर्वाधिकार अंश पूँजी के निर्गमन द्वारा कितनी राशि इकट्ठी करनी है?
ऋणपत्रों और अन्य दीर्घ-कालीन ऋणों द्वारा कितनी राशि इकट्ठी करनी है?

विभिन्न साधनों से इकट्ठे किए जाने वाले वित्त का अनुपात निर्धारण करने के लिए वित्तीय प्रबंधक विभिन्न वित्तीय साधनों के गुण-दोषों को माप कर सबसे लाभप्रद साधन का चुनाव करता है। ऐसा चुनाव अनेकों आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों पर भी निर्भर करता है अतः भिन्न-भिन्न व्यवसायों में और एक ही व्यवसाय में लगी हुई भिन्न-भिन्न फर्मों के बीच पूँजी ढाँचा भिन्न-भिन्न हो सकता है।

पूँजी ढाँचे का महत्त्व (Importance of Capital Structure) – पूँजी ढाँचे का निर्णय करना वित्तीय प्रबंध द्वारा किए जाने वाले निर्णयों में सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। वित्त के विभिन्न साधनों के बीच

मिश्रण निश्चित करने में बहुत ध्यान देने की आवश्यकता होती है। पूँजी ढाँचे संबंधी निर्णय के तर्कपूर्ण और सही होने से पूँजी की लागत घटती है और फर्म का मूल्य बढ़ता है, जबकि गलत निर्णय से फर्म के मूल्य पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। जैसा कि पहले अध्ययन किया गया है, वित्त के विभिन्न साधनों में जोखिम और लागत के संबंध में अन्तर होता है, अतः एक उचित पूँजी ढाँचा निर्माण करने की अत्यधिक आवश्यकता है। निम्न कारणों से पूँजी ढाँचा संबंधी निर्णयों का अत्यधिक महत्त्व है :

(*i*) पूँजी ढाँचा फर्म द्वारा वहन किए गए जोखिम का निर्धारण करता है।
(*ii*) पूँजी ढाँचा फर्म की पूँजी की लागत का निर्धारण करता है।
(*iii*) यह फर्म की लोच (flexibility) तथा तरलता (liquidity) को प्रभावित करता है।
(*iv*) यह स्वामियों के फर्म पर नियन्त्रण को प्रभावित करता है।

अनुकूलतम पूँजी ढाँचा (Optimum Capital Structure)

ऐसा पूँजी ढाँचा जो फर्म के मूल्य को अधिकतम करता है 'अनुकूलतम पूँजी ढाँचा' कहा जाता है। अन्य शब्दों में, वह पूँजी ढाँचा अनुकूलतम कहा जाता है जब पूँजी की लागत न्यूनतम और फर्म का कुल मूल्य अधिकतम होता है। अतः अंशधारियों की सम्पदा को अधिकतम करने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वित्तीय प्रबंधक को फर्म का अनुकूलतम पूँजी ढाँचा निर्धारित करना चाहिए।

अनुकूलतम या श्रेष्ठ पूँजी ढाँचे की विशेषताएँ
(Features or Characteristics or Qualities of Optimum or Sound Capital Structure)

एक अनुकूलतम पूँजी ढाँचे में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जानी चाहिए :

(1) **सरलता** (Simplicity) – जितना भी सम्भव हो सके पूँजी ढाँचा सरल होना चाहिए। सरलता से आशय है कि समता और पूर्वाधिकार अंश पूँजी के अतिरिक्त कम से कम प्रकार की दीर्घ-कालीन प्रतिभूतियाँ निर्गमित की जानी चाहिए। प्रारम्भ में केवल साधारण और पूर्वाधिकार अंश ही निर्गमित करने चाहिए और ऋण प्रतिभूतियों का निर्गमन बाद में किसी समय करना चाहिए।

(2) **लोचशीलता** (Flexibility) – पूँजी ढाँचा पर्याप्त रूप से लोचपूर्ण होना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर इसमें परिवर्तन किया जा सके। कम्पनी के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि यदि आवश्यक हो तो बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने पूँजी ढाँचे को कम से कम लागत में और बिना देरी के परिवर्तन कर सके। ऋणों के प्रयोग से पूँजी ढाँचा अधिक लोचपूर्ण बनता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर ऋण लिए जा सकते हैं और आवश्यकता न रहने पर इन्हें वापिस किया जा सकता है।

(3) **न्यूनतम जोखिम** (Minimum Risk) – पूँजी ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिए की इससे जोखिम की मात्रा न्यूनतम रहे। अत्यधिक ऋणों के प्रयोग से कम्पनी की शोधन क्षमता (solvency) पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इससे ऋणों पर ब्याज चुकाने का स्थाई भार रहता है चाहे लाभ हो या न हो। ऋणों का प्रयोग उसी सीमा तक करना चाहिए जिस सीमा तक जोखिम में महत्त्वपूर्ण वृद्धि न होती हो। इस सीमा से अधिक ऋणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(4) **न्यूनतम पूँजी लागत** (Minimum Cost of Capital) – पूँजी लागत का अर्थ है ऋणों पर ब्याज और अंशों पर लाभांश। साधारण पूँजी की तुलना में ऋण वित्त का एक सस्ता साधन है, क्योंकि साधारण अंशधारियों द्वारा अपेक्षित दर की तुलना में ब्याज की दर कम होती है और करों की गणना करते समय ब्याज घटाने की छूट होने के कारण ऋणों की लागत और भी कम हो जाती है। पूर्वाधिकार अंश पूँजी भी साधारण अंश पूँजी की तुलना में सस्ती पड़ती है परन्तु इतनी सस्ती नहीं पड़ती जितने कि ऋण। अतः अनुकूलतम पूँजी संरचना में पर्याप्त मात्रा में ऋण सम्मिलित होने चाहिए क्योंकि यह वित्त का सबसे सस्ता साधन है।

(5) **पर्याप्त तरलता** (Sufficient Liquidity) – तरलता से आशय ब्याज और मूलधन की राशि समय पर भुगतान करने की कम्पनी की क्षमता से है। फर्म को तभी तरल माना जाता है यदि वह उचित से अनुमान की गई विपरीत परिस्थितियों में भी ब्याज और मूलधन का भुगतान करने में सक्षम हो। अतः ण की अनुकूलतम राशि का निर्धारण करते समय सावधानी से यह विश्लेषण करना चाहिए कि मन्दी cession) की दशा में फर्म की तरलता को कैसे बनाए रखा जाएगा।

(6) **अधिकतम लाभप्रदता** (Maximum Profitability) – कम्पनी का पूँजी ढाँचा इस प्रकार का ना चाहिए जिससे कि साधारण अंशधारियों को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। यदि ऋणों की लागत की लना में कम्पनी की सम्पत्तियों पर अधिक दर से लाभ कमाने की सम्भावना हो तो फर्म द्वारा अधिक मात्रा ऋणों का प्रयोग करना चाहिए जिससे कि फर्म की लाभप्रदता अधिकतम हो सके अन्यथा फर्म को ऋण जी का प्रयोग करने से बचना चाहिए।

(7) **नियन्त्रण कायम रखना** (Retaining Control) – पूँजी ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिए ससे की वर्तमान प्रबंध को कम्पनी पर अपना नियन्त्रण बनाए रखने में सहायता मिले। इस उद्देश्य के लिए तिरिक्त कोष जुटाते समय समता अंश पूँजी के निर्गमन की तुलना में ऋणों को प्राथमिकता दी जानी ाहिए। ऋण-धारकों को कम्पनी की सभाओं में वोट डालने का अधिकार नहीं होता है जिससे कि वह म्पनी के संचालकों का चयन नहीं कर सकते जबकि समता अंशधारियों को वोट का अधिकार होता है।

(8) **अनावश्यक प्रतिबन्धों से बचाव** (Avoidance of unnecessary restrictions) – पूँजी ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिए कि फर्म अनावश्यक प्रतिबन्धों से बची रहे। जैसे कि, वित्तीय संस्थाओं से दीर्घ-कालीन ऋण लेने से बचना चाहिए, क्योंकि ये संस्थाएँ भविष्य में फर्म के ऋण लेने पर काफी पाबंदियाँ लगा देती हैं।

(9) **वैधानिक आवश्यकताएँ** (Legal Requirements) – पूँजी ढाँचे को सभी वैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाला होना चाहिए। भारतीय प्रतिभूति और विनिमयन बोर्ड (Securities and Exchange Board of India or SEBI) समय-समय पर अनेकों दिशा निर्देश जारी करता रहता है। पूँजी ढाँचे का निर्माण करते समय इन सबका पालन किया जाना चाहिए।

पूँजी ढाँचे को प्रभावित अथवा निर्धारित करने वाले तत्त्व
(Factors Affecting or Determining Capital Structure)

कम्पनी के पूँजी ढाँचे की योजना प्रारम्भ में ही कम्पनी के प्रवर्तन के समय बनाई जाती है। प्रारम्भिक पूँजी ढाँचे की योजना बहुत ही ध्यानपूर्वक तैयार करनी चाहिए, क्योंकि इसके दीर्घ-कालीन परिणाम निकलते हैं। फिर भी, पूँजी ढाँचे के संबंध में निर्णय करना एक निरन्तर चलने वाला कार्य है, क्योंकि फर्म को जब भी अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता होती है उसी समय यह निर्णय लेना होता है। पूँजी ढाँचे को प्रभावित करने वाले बहुत से तत्त्व हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व, जिन्हें पूँजी ढाँचा निर्धारित करते समय ध्यान में रखना चाहिए, निम्नलिखित हैं :

(1) **फर्म का आकार** (Size of the Firm) – प्रायः छोटे आकार की फर्में अपने दीर्घ-कालीन कोषों के लिए स्वामियों की पूँजी (Owned Capital) तथा संचित आयों (Retained earnings) पर निर्भर करती हैं। इसका कारण यह है कि इन फर्मों को दीर्घ-कालीन ऋण प्राप्त करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके बावजूद, यदि वह कुछ दीर्घ-कालीन ऋण प्राप्त कर भी लेती हैं तो उन्हें यह बहुत ऊँची दर पर और असुविधाजनक शर्तों पर प्राप्त होगा। ऋण धारकों द्वारा, विशेष रूप से वित्तीय संस्थाओं द्वारा ऋण प्रदान करते समय अनेक प्रकार की पाबंदियाँ लगा दी जाती हैं जो कि व्यवसाय चलाने में प्रबंधकों की स्वतन्त्रता में बाधा डालती हैं। अतः छोटे आकार की फर्मों को न तो दीर्घ-कालीन ऋण प्राप्त हो पाते हैं और न ही इन्हें प्राप्त करना अच्छा माना जाता है।

आकार वाली कम्पनियों के लिए अंश निर्गमन द्वारा पूँजी बाजार से पूँजी एकत्रित करना भी काफी कठिन होता है। इसके कारण हैं : सर्वप्रथम तो छोटी कम्पनियों की पूँजी इतनी कम होती है कि उन्हें स्टॉक एक्सचेंज पर रजिस्टर ही नहीं किया जाता। दूसरे, इनके पूँजी निर्गमन का आकार इतना कम होगा कि बड़ी आकार वाली कम्पनियों की तुलना में इनकी निर्गमन लागत बहुत अधिक आएगी। तीसरे, कम्पनी का नियन्त्रण वर्तमान अंशधारियों के हाथ से निकल जाने का जोखिम भी बना रहता है, क्योंकि छोटी कम्पनियों के अंश व्यापक रूप से फैले हुए नहीं होते और इसलिए नये अंशधारी आसानी से संगठित होकर कम्पनी पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकते हैं। अतः छोटी कम्पनियाँ अपने विकास को रोक कर उसी सीमा तक विकास करती हैं जिसके लिए वित्त का प्रबंध सुगमतापूर्वक आन्तरिक साधनों से हो सके।

इसके विपरीत, दीर्घ आकार वाली फर्में सस्ती दरों पर तथा आसान शर्तों पर दीर्घ-कालीन ऋण प्राप्त कर सकती हैं और जनता को समता अंश, पूर्वाधिकार अंश और ऋणपत्र भी निर्गमित कर सकती हैं। अधिक संख्या में अंश निर्गमन करने के कारण निर्गमन की लागत भी छोटे आकार की फर्मों की तुलना में कम होती है। अतः एक बड़े आकार की कम्पनी विभिन्न प्रकार के साधनों से वित्त एकत्रित कर सकती है और यह अपने पूँजी ढाँचे में लोच रख सकती है।

(2) **आय की स्थिरता** (Stability of Earnings) – जिन कम्पनियों की बिक्री एवं आय नियमित हैं एवं वृद्धि की तरफ अग्रसर हैं वह अपने पूँजी ढाँचे में अधिक ऋणों अर्थात् अधिक लीवरेज का प्रयोग कर सकती हैं। इसका कारण यह है कि ऐसी कम्पनियों को ब्याज एवं ऋणों का समय पर भुगतान करने में कोई कठिनाई नहीं आएगी। इसके विपरीत, जिन कम्पनियों की बिक्री एवं आय में लगातार उतार-चढ़ाव आते रहते हैं उन्हें अधिक मात्रा में ऋणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन्हें ब्याज और मूलधन के समय पर भुगतान न करने का जोखिम बना रहता है जिससे वित्तीय संकट उत्पन्न हो सकता है।

(3) **प्रतियोगिता की मात्रा** (Degree of Competition) – यदि किसी उद्योग में प्रतियोगिता की मात्रा अधिक है, तो ऐसे उद्योग की फर्मों को ऋण की अपेक्षा समता पूँजी का अधिक प्रयोग करना चाहिए। इसके विपरीत, जिन उद्योगों में प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा अधिक नहीं है उनकी बिक्री में स्थिरता की प्रवृति पाई जाएगी और इसलिए, ऐसे उद्योग में लगी हुई फर्में अधिक मात्रा में ऋणों का प्रयोग कर सकती हैं।

(4) **फर्म के जीवन चक्र की अवस्था** (Stage of Life Cycle of the Firm) – यदि कोई फर्म अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, तो इसके असफल होने की अधिक सम्भावना पाई जाती है। अतः इसे समता पूँजी के प्रयोग पर अधिक बल देना चाहिए। इसे दीर्घ-कालीन ऋणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन पर स्थायी रूप से ब्याज का भुगतान करना होता है। जब फर्म का विकास होकर यह परिपक्वता (Maturity) की अवस्था में पहुँच जाती है तो वह दीर्घ-कालीन ऋणों का प्रयोग कर सकती है।

(5) **ब्याज आवरण अनुपात** (Interest Coverage Ratio) – यह अनुपात यह मापता है कि स्थिर ब्याज भुगतानों का फर्म की लाभप्रदता से क्या अनुपात है। यह अनुपात यह बताता है कि कम्पनी में अपने स्थिर ब्याज को भुगतान करने की क्षमता है या नहीं। जितना भी यह अनुपात अधिक होगा, फर्म की ब्याज भुगतान की क्षमता उतनी ही अधिक मानी जाएगी और इसलिए ऋणों की अधिक राशि का प्रयोग किया जा सकेगा। इस अनुपात को निम्न प्रकार से ज्ञात किया जाता है :

$$\text{Interest Coverage Ratio} = \frac{\text{Profit before Interest and Income tax}}{\text{Fixed Interest Charges}}$$

(6) **फर्म की रोकड़ प्रवाह योग्यता** (Cash flow ability of the Firm) – कभी-कभी, फर्म का ब्याज आवरण अनुपात तो काफी ऊँचा होता है परन्तु उसके पास इतनी रोकड़ नहीं होती कि वह अपने स्थायी भार (Fixed Charges) का समय पर भुगतान कर सके जिसमें ब्याज, मूलधन एवं पूर्वाधिकार लाभांश का भुगतान सम्मिलित है। इसका कारण यह हो सकता है कि फर्म की आय स्टॉक में, देनदारों में और कभी-कभी स्थायी सम्पत्तियों के क्रय में फँसी रहती है। इसलिए जब भी कोई कम्पनी अतिरिक्त ऋण

पूँजी ढाँचे की विचारधाराएँ
(Theories of Capital Structure)

पूँजी ढाँचे की विचारधाराएँ पूँजी ढाँचा निर्णय (Capital Structure Decision) तथा फर्म के बाजार मूल्य (Market Value of the Firm) के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं। इस सम्बन्ध में विचारों में मतभेद है कि पूँजी ढाँचा निर्णय (अथवा लीवरेज अथवा ऋण-समता अनुपात) फर्म के मूल्य (अथवा अंशधारी सम्पदा) को प्रभावित करता है या नहीं। कुछ विचारकों का मत है कि पूँजी ढाँचा निर्णय और फर्म के मूल्य के बीच काफी गहरा सम्बन्ध है जबकि अन्य विचारकों का मत है कि पूँजी ढाँचा निर्णय का फर्म के मूल्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

पूँजी ढाँचा की विचारधाराओं को विभिन्न विद्वानों ने प्रतिपादित किया है। ये विद्वान हैं David Durand, Ezra Solomon and Modigliani and Miller. पूँजी ढाँचे के सम्बन्ध में मुख्य विचारधाराएँ निम्नलिखित हैं :

(1) शुद्ध आय विचारधारा (Net Income, *i.e.*, NI Approach)
(2) शुद्ध संचालन आय विचारधारा (Net Operating Income, *i.e.*, NOI Approach)
(3) परम्परागत विचारधारा (Traditional Approach)
(4) मोडीगिल्यानी एवं मिल्लर विचारधारा (Modigliani and Miller Approach)

इन विचारधाराओं में से शुद्ध आय विचारधारा तथा परम्परागत विचारधारा इस दृष्टिकोण से पूर्णतया: सहमत हैं कि फर्म के पूँजी ढाँचे में और फर्म के मूल्य में काफी गहरा सम्बन्ध है जबकि शुद्ध संचालय आय विचारधारा तथा मोडीगिल्यानी एवं मिल्लर विचारधाराएँ फर्म के पूँजी ढाँचे और फर्म के मूल्य में कोई सम्बन्ध नहीं मानती हैं।

(1) **शुद्ध आय विचारधारा** (Net Income, i.e. NI Approach) : डेविड डूरन्ड द्वारा प्रतिपादित शुद्ध आय विचारधारा (Net Income or NI Approach) के अनुसार पूँजी ढाँचा निर्णय (Capital Structure Decision) फर्म के मूल्यांकन के लिए महत्त्वपूर्ण (Relevant) है। अन्य शब्दों में, वित्तीय लीवरेज (अर्थात् ऋण व समता के अनुपात) में कोई भी परिवर्तन उतनी ही मात्रा में फर्म के मूल्य तथा पूँजी की औसत लागत में परिवर्तन कर देगा। इस विचारधारा के अनुसार, यदि समता की तुलना में ऋणों के अनुपात में वृद्धि की जाती है तो पूँजी की लागत में कमी आती है जबकि फर्म के मूल्य और समता अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, समता की तुलना में ऋणों के अनुपात में कमी से पूँजी की लागत में वृद्धि होती है जबकि फर्म के मूल्य और समता अंशों के बाजार मूल्य में कमी आती है। अतः कोई भी फर्म अधिकतम सम्भव मात्रा में ऋण पूँजी के प्रयोग से अपनी पूँजी की लागत को न्यूनतम कर सकती है और फर्म के मूल्य एवं अपने समता अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि कर सकती है।

यह विचारधारा निम्नलिखित तीन मान्यताओं पर आधारित है :

(*i*) समता की लागत की तुलना में ऋण की लागत कम है
(*ii*) ऋणों के प्रयोग से विनियोक्ताओं के जोखिम की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है
(*iii*) कोई भी कॉरपोरेट अथवा व्यक्तिगत आयकर नहीं हैं।

शुद्ध आय विचारधारा के पक्ष में मुख्य तर्क यह है कि पूँजी ढाँचे में ऋणों के अनुपात में वृद्धि से कोषों के एक सस्ते स्रोत में वृद्धि हो जाती है जिसके फलस्वरूप, पूँजी की औसत लागत में कमी आती है और परिणामतः फर्म के मूल्य में वृद्धि होती है। ऋण की लागत समता की लागत से कम होने का मुख्य कारण यह है कि समता अंशों पर प्रायः जोखिम की मात्रा अधिक होती है जिससे वह अधिक प्रत्याय (Return) की आशा करते हैं। अतः ब्याज की दर प्रायः लाभांश की दर से कम होती है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि ऋणों पर ब्याज स्वीकृत व्यय है, अतः इस पर कम्पनी को कर की छूट प्राप्त होती है।

अतः शुद्ध आय विचारधारा के अनुसार, वित्तीय लीवरेज (ऋण-समता अनुपात) फर्म के पूँजी ढाँचे की रचना में एक महत्वपूर्ण घटक है। ऋण एवं समता में तर्कपूर्ण मिश्रण द्वारा एक फर्म एक ऐसे आदर्श पूँजी ढाँचे की रचना कर सकती है जिससे फर्म का मूल्य तो अधिकतम और पूँजी की औसत लागत न्यूनतम हो। ऐसा पूँजी ढाँचा होने पर प्रति अंश बाजार मूल्य भी अधिकतम होगा।

शुद्ध आय (Net Income or NI) विचारधारा को ग्राफ के माध्यम से निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है:

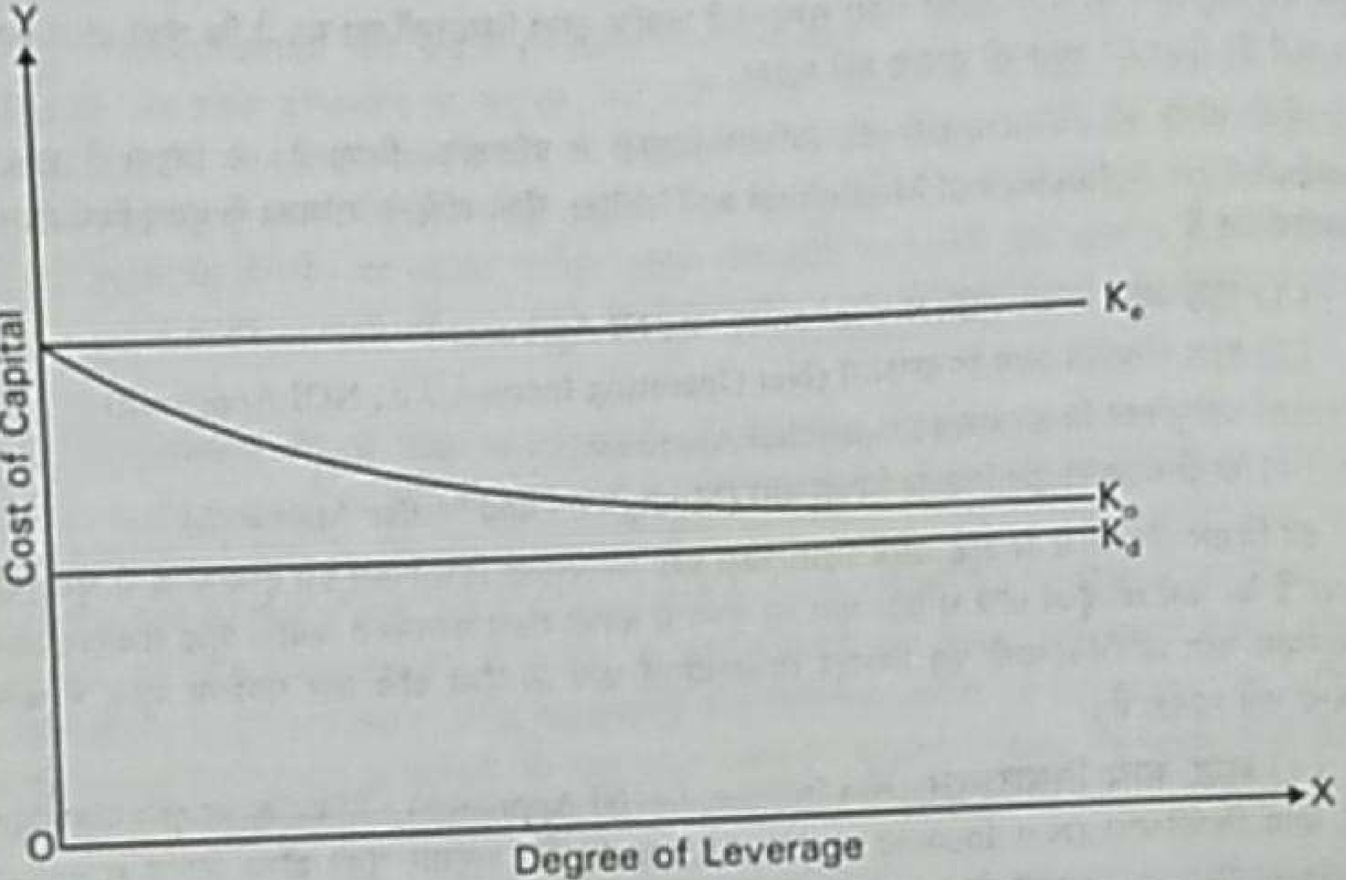

रेखाचित्र : शुद्ध आय (NI) विचारधारा के अनुसार लीवरेज का पूँजी की लागत पर प्रभाव

उपरोक्त रेखाचित्र में लीवरेज की मात्रा को X रेखा पर तथा समता की लागत (Cost of Equity or K_e), ऋण की लागत (Cost of Debt or K_d) तथा पूँजी की कुल लागत (Overall Cost of Capital or K_o) की प्रतिशत दरों को Y रेखा पर प्रदर्शित किया गया है। रेखाचित्र प्रकट करता है कि लीवरेज की मात्रा (समता की तुलना में ऋण का अनुपात) बढ़ने पर भी K_e तथा K_d अपरिवर्तित रहते हैं अर्थात् ये दोनों रेखाएँ X रेखा के समानान्तर रहती हैं। परन्तु जैसे-जैसे लीवरेज की मात्रा बढ़ती है पूँजी की लागत (Cost of Capital or K_o) घटती है और घटते हुए ऋण की लागत (Cost of Debt or K_d) की तरफ जाती है। तथापि K_o, K_d को छू नहीं सकती क्योंकि कोई भी फर्म ऐसी नहीं होती जो केवल ऋणों का ही प्रयोग करती हो, समता पूँजी का नहीं। आदर्श पूँजी ढाँचा उसे कहते हैं जहाँ K_o, K_d के बहुत समीप हो, अर्थात् जहाँ समता पूँजी की मात्रा नगण्य (insignificant) हो। इस स्तर पर, फर्म की पूँजी की कुल लागत न्यूनतम होगी और फर्म का प्रति अंश बाजार मूल्य उच्चतम होगा।

शुद्ध आय विचारधारा को निम्नांकित उदाहरणों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया गया है :

		13.88%	14.55%

(2) **शुद्ध संचालन आय विचारधारा** (Net Operating Income Approach) : शुद्ध संचालन आय विचारधारा (Net Operating Income or NOI Approach) भी डेविड डूरन्ड द्वारा ही प्रतिपादित है। यह विचारधारा शुद्ध आय विचारधारा के बिल्कुल विपरीत है। इस विचारधारा का सार तत्त्व यह है कि पूँजी ढाँचा निर्णय फर्म के मूल्यांकन के लिए महत्त्वहीन (Irrelevant) है। पूँजी ढाँचे में कोई भी परिवर्तन फर्म के मूल्य को प्रभावित नहीं करता और वित्त प्राप्त करने की कोई भी विधि अपनाई जाए पूँजी की औसत लागत एक जैसी (Constant) रहती है। इसका अर्थ है कि चाहे ऋण-समता मिश्रण 50 : 50 हो अथवा

30 : 70 अथवा 60 : 40, पूँजी की औसत लागत एक जैसी रहेगी। अतः फर्म का मूल्य, अंशों का बाजार मूल्य एवं पूँजी की औसत लागत लीवरेज की मात्रा पर निर्भर नहीं करती। यह विचारधारा निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

(*i*) समता की लागत की तुलना में ऋण की लागत कम होती है।

(*ii*) वित्तीय लीवरेज में परिवर्तन से ऋणदाताओं के जोखिम की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है। परिणामस्वरूप, वित्तीय लीवरेज के सभी स्तरों पर ऋण की लागत (Cost of debt) स्थिर रहती है।

(*iii*) बाजार में फर्म के मूल्य का सम्पूर्णता से पूँजीकरण किया जाता है, अतः ऋण और समता में विभाजन महत्वहीन है।

(*iv*) कोई भी कारपोरेट अथवा व्यक्तिगत आयकर नहीं हैं।

शुद्ध संचालन आय (NOI) विचारधारा इस तथ्य का समर्थन करती है कि वित्तीय लीवरेज में वृद्धि से समता की लागत (Cost of Equity or K_e) में वृद्धि होती है। इसका कारण यह है कि फर्म द्वारा अधिकाधिक मात्रा में ऋण का प्रयोग करने से समता अंशधारियों द्वारा उठाए गए जोखिम में वृद्धि होती है। बढ़े हुए जोखिम की क्षतिपूर्ति करने के लिए अंशधारी अपने विनियोग पर अधिक प्रत्याय की दर (Higher Rate of Return) की आशा करते हैं। अतः वित्तीय लीवरेज में वृद्धि के परिणामस्वरूप समता की लागत (K_e) में वृद्धि होती है जबकि ऋण की लागत (Cost of Debt or K_d) स्थिर रहती है, क्योंकि ऋणदाताओं के वित्तीय जोखिम में कोई परिवर्तन नहीं होता।

अतः वित्त के एक सस्ते साधन (अर्थात् ऋण) के प्रयोग से होने वाला लाभ समता की लागत (K_e) में वृद्धि से पूर्णतयाः प्रभावशून्य (Offset) हो जाता है। परिणामस्वरूप, वित्तीय लीवरेज के सभी स्तरों पर पूँजी की औसत लागत (Overall cost of Capital or K_0) स्थिर रहती है। क्योंकि फर्म का मूल्य पूँजी की औसत लागत के आधार पर सम्पूर्णता से मापा जाता है और क्योंकि पूँजी की औसत लागत स्थिर रहती है, अतः फर्म का मूल्य (Value of Firm or V) भी वित्तीय लीवरेज के सभी स्तरों पर स्थिर अथवा समान रहता है।

शुद्ध संचालन आय (Net Operating Income or NOI) विचारधारा को ग्राफ के माध्यम से निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है :

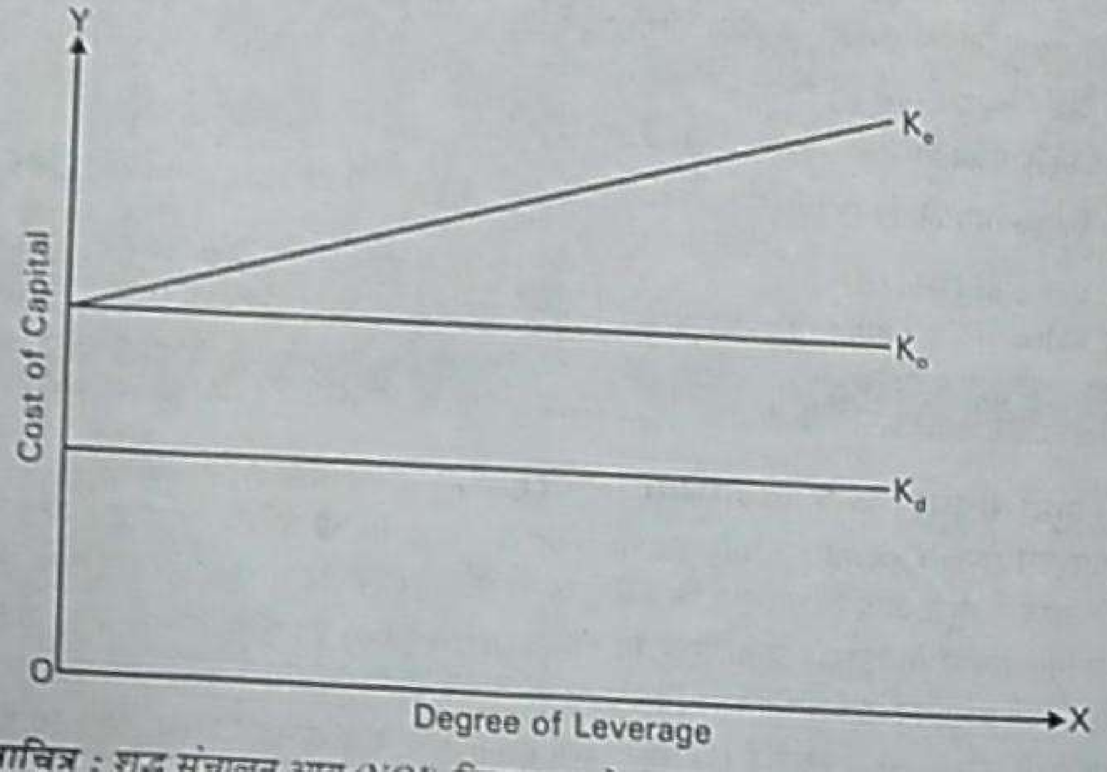

रेखाचित्र : शुद्ध संचालन आय (NOI) विचारधारा के अनुसार लीवरेज का पूँजी की लागत पर प्रभाव

0,00,000 + 6,30,000 = 32,30,000

(3) परम्परागत विचारधारा (Traditional Approach) : परम्परागत विचारधारा शुद्ध आय विचारधारा (Net Income Approach) तथा शुद्ध आय संचालन विचारधारा (Net Operating Income Approach) के बीच एक समझौता अथवा मध्यम मार्ग स्थापित करती है। यह शुद्ध आय विचारधारा का इस सम्बन्ध में समर्थन करती है कि पूँजी ढाँचे निर्णय से पूँजी की औसत लागत (Overall Cost of

Capital) तथा फर्म का मूल्य दोनों प्रभावित होते हैं परन्तु यह शुद्ध आय विचारधारा की इस बात को समर्थन नहीं करती कि पूँजी ढाँचे में किसी भी सीमा तक ऋण के प्रयोग से पूँजी की औसत लागत अवश्य ही कम होती जाएगी और फर्म का मूल्य बढ़ता जाएगा। यह **शुद्ध संचालन आय विचारधारा** (Net Operating Income Approach) से इस बारे में मेल रखती है कि लीवरेज की एक सीमा के पश्चात् पूँजी की लागत (Cost of Capital or K_e) बढ़ती है, परन्तु यह शुद्ध संचालन आय विचारधारा से इस बारे में भिन्न है कि वित्तीय लीवरेज की किसी भी मात्रा पर पूँजी की औसत लागत (Overall cost of Capital or K_0) तथा फर्म का मूल्य स्थिर रहते हैं।

परम्परागत विचारधारा का सार तत्व यह है कि ऋण के विवेकपूर्ण प्रयोग से एक फर्म अपनी पूँजी की औसत लागत (K_0) में कमी कर सकती है और फर्म के मूल्य में वृद्धि कर सकती है। इस दृष्टिकोण का आधारभूत तर्क यह है कि ऋण, समता पूँजी की तुलना में वित का एक सस्ता साधन है। लीवरेज में परिवर्तन से अर्थात् समता के स्थान पर ऋणों के अधिक प्रयोग से पूँजी की औसत लागत में कमी आती है। परन्तु ऐसा तभी तक होता है जब ऋण का प्रयोग उचित सीमा में ही किया जाए। यदि ऋण का अनुपात एक निश्चित सीमा से अधिक बढ़ाया जाएगा तो पूँजी की औसत लागत (K_0) बढ़नी शुरू हो जाती है और फर्म का बाजार मूल्य घटना शुरू हो जाता है। अत: इस विचारधारा के अनुसार फर्म का एक अनुकूलतम पूँजी ढाँचा होता है और यह वित्तीय लीवरेज की उस मात्रा पर स्थापित होता है जहाँ पूँजी की औसत लागत (K_0) न्यूनतम होती है और फर्म का मूल्य अधिकतम होता है।

परम्परागत विचारधारा के अनुसार, पूँजी की औसत लागत और फर्म का मूल्य जिस प्रकार वित्तीय लीवरेज की मात्रा में परिवर्तन से प्रभावित होते हैं उसे तीन चरणों (Stages) में विभाजित किया जा सकता है :

प्रथम चरण (First Stage) :

प्रथम चरण में, वित्तीय लीवरेज में वृद्धि से अर्थात् पूँजी ढाँचे में ऋण के अधिक प्रयोग से पूँजी की औसत लागत (K_0) में कमी आती है तथा फर्म के मूल्य में वृद्धि होती है। इसका कारण यह है कि वित्त के एक सस्ते साधन ऋण को वित्त के एक महँगे साधन समता के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। इस चरण में समता की लागत (Cost of Equity or K_e) स्थिर रहती है अथवा नगन्य मात्रा में बढ़ती है। ऋण की लागत (Cost of Debt or K_d) भी स्थिर रहती है अथवा यह भी नगन्य मात्रा में बढ़ती है क्योंकि बाजारी शक्तियाँ ऋण के प्रयोग को इस चरण में एक उचित नीति मानती हैं।

द्वितीय चरण (Second Stage) :

जब फर्म वित्तीय लीवरेज की एक निश्चित सीमा तक पहुँच जाती है तो लीवरेज में वृद्धि पूँजी की औसत लागत (K_0) तथा फर्म के मूल्य को प्रभावित नहीं करती। इसका कारण यह है कि वित्तीय जोखिम में वृद्धि के कारण समता की लागत (Cost of Equity or K_e) में वृद्धि हो जाती है जो कि सस्ती ऋण पूँजी के प्रयोग से होने वाले लाभ को पूर्णतया: प्रभावशून्य कर देती है। इस सीमा (Range) के अन्दर अथवा इस निश्चित स्तर पर पूँजी की औसत लागत (K_0) न्यूनतम होगी और फर्म का मूल्य अधिकतम होगा। यह सीमा अथवा स्तर 'आदर्श पूँजी ढाँचा' प्रकट करता है।

तृतीय चरण (Third Stage) :

तृतीय चरण में, ऋणों में और अधिक वृद्धि से पूँजी की औसत लागत (K_0) में वृद्धि हो जाएगी और फर्म के मूल्य में कमी हो जाएगी। ऐसा दो कारणों से होता है : (i) वित्तीय जोखिम बढ़ने से समता की लागत (K_e) में तेजी से वृद्धि होती है और (ii) ऋण की लागत (K_d) में भी वृद्धि होती है, क्योंकि ऋणदाता बढ़े हुए जोखिम की क्षतिपूर्ति के बदले ऋणों पर ब्याज की दर में वृद्धि कर देते हैं।

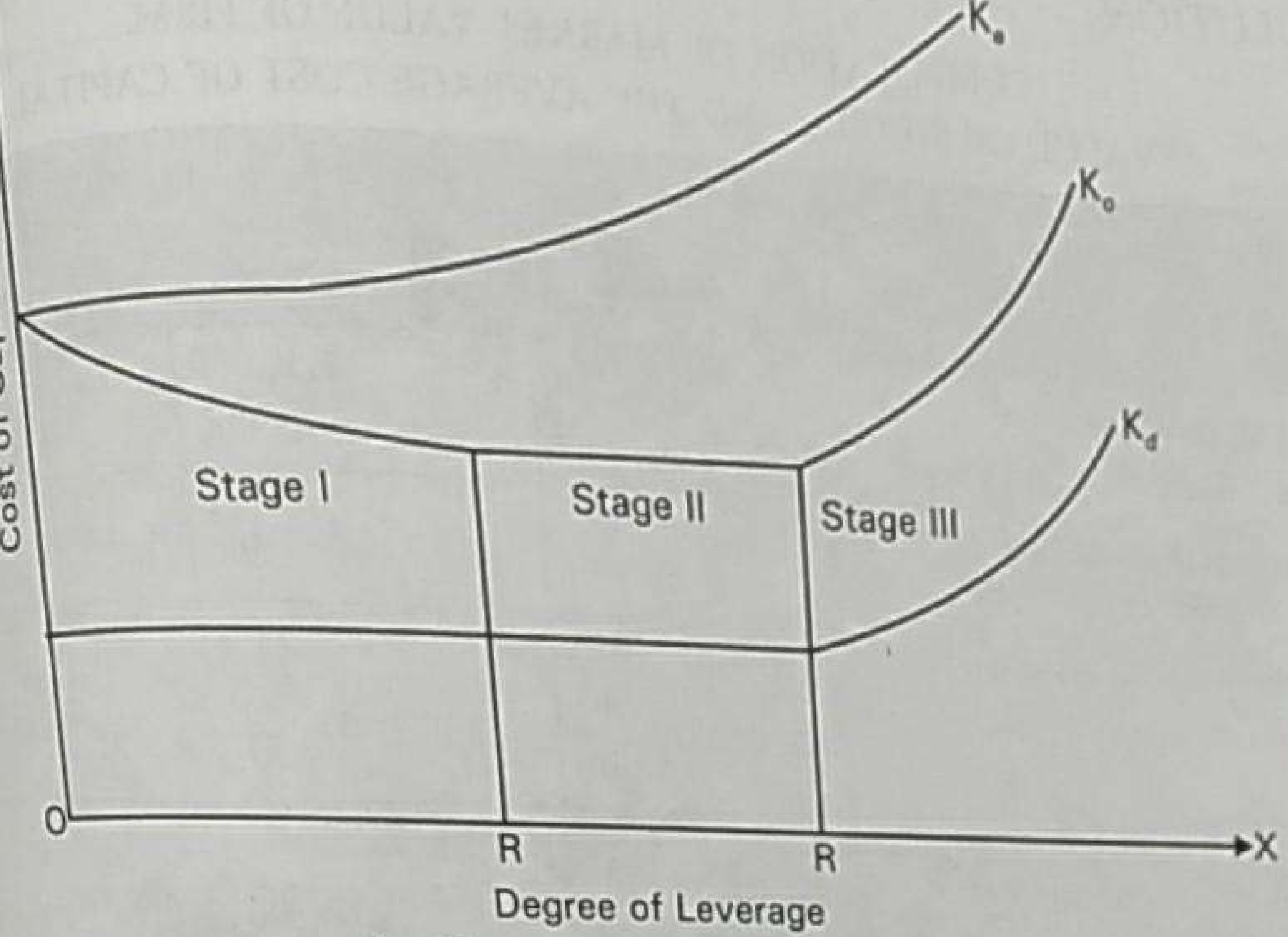

रेखाचित्र : *परम्परागत विचारधारा*

पूँजी की औसत लागत (Overall Cost of Capital or K_0), समता की लागत (Cost of Equity or K_e) तथा ऋण की लागत (Cost of Debt or K_d) में परिवर्तन को उपर्युक्त ग्राफ से स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र प्रकट करता है कि प्रारम्भिक चरण में समता की लागत (K_e) नगन्य मात्रा में बढ़ती है परन्तु बाद के चरणों में यह तीव्रता से बढ़ती है। ऋण की लागत (K_d) लीवरेज की एक निश्चित सीमा तक तो स्थिर रहती है तथा उसके बाद यह भी बढ़नी शुरू हो जाती है। पूँजी की औसत लागत (K_0) का वक्र एक तश्तरी (Saucer) की आकृति का है जिसकी सतह RR के बीच की दूरी तक समतल (Horizontal) है। फर्म का अनुकूलतम पूँजी ढाँचा RR की बीच की दूरी तक है क्योंकि इस दूरी के बीच पूँजी की औसत लागत (K_0) न्यूनतम है और फर्म का मूल्य अधिकतम है।

परम्परागत विचारधारा को निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्ट किया गया है :

10.0		12.7
	3.6	13.6

for the Company is in situation 2, when it uses 40%
bt and 60% equity as its cost of capital (K_0) at this level is minimum.

(4) मोडीगिल्यानी एवं मिल्लर विचारधारा (Modigliani and Miller Approach) : यदि तों पर ध्यान न दिया जाए तो Modigliani and Miller Approach (or MM Approach) शुद्ध चालन आय विचारधारा (NOI Approach) के समान है। MM विचारधारा यह सिद्ध करती है कि पूँजी ाँचा निर्णय एवं फर्म के मूल्य और इसकी पूँजी की औसत लागत के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह विचारधारा NOI विचारधारा से श्रेष्ठ है क्योंकि यह इस बात का व्यवहारात्मक औचित्य (प्रमाण) प्रस्तुत करती है कि पूँजी ढाँचे निर्णय का पूँजी की औसत लागत से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य शब्दों में, MM विचारधारा यह सिद्ध करती है कि ऋण-समता के प्रत्येक स्तर पर पूँजी की औसत लागत स्थिर रहती है।

(i) **मोडीगिल्यानी एवं मिल्लर विचारधारा : करों पर ध्यान न देने की दशा में** (Modigliani and Miller Approach — When taxes are ignored) : इस विचारधारा के अनुसार पूँजी ढाँचे (अर्थात् ऋण-समता अनुपात) में परिवर्तन से पूँजी की औसत लागत एवं फर्म के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि ऋण, समता पूँजी की तुलना में वित्त का सस्ता साधन है परन्तु ऋण के अधिक प्रयोग से समता की लागत (Cost of Equity) बढ़ जाती है और समता की यह बढ़ी हुई लागत कम लागत के ऋणों से होने वाले लाभों को प्रभावशून्य कर देती है। अतः यद्यपि ऋण-समता अनुपात में परिवर्तन समता की लागत (Cost of Equity) को तो प्रभावित करता है परन्तु पूँजी की औसत लागत (Overall cost of Capital) स्थिर रहती है। यह विचारधारा यह भी प्रतिपादित करती है कि एक निश्चित सीमा के बाद ऋणों के प्रयोग से वित्तीय जोखिम बढ़ने के कारण ऋणों की लागत (Cost of Debt) बढ़ जाती है और समता की लागत (Cost of Equity) कम हो जाती है जिससे पूँजी की औसत लागत (Overall cost of Capital) स्थिर रहती है।

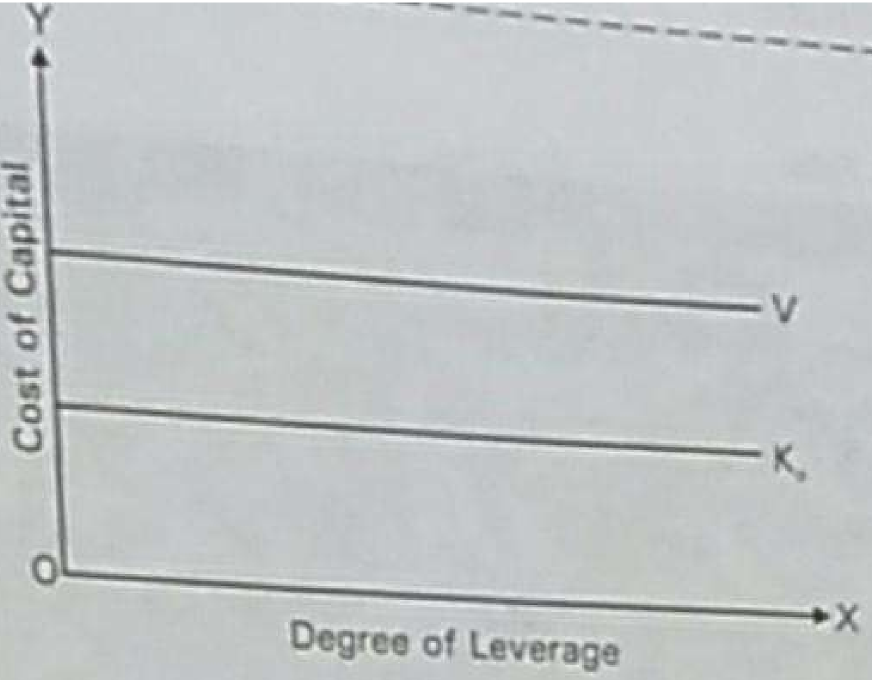

Fig. MM Approach.

उपरोक्त रेखाचित्र प्रदर्शित करता है कि करों के अभाव में, ऋण-समता के किसी भी अनुपात पर फर्म का कुल मूल्य और पूँजी की औसत लागत स्थिर रहती है।

मान्यताएँ (Assumptions) :

MM विचारधारा निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

1. **पूँजी बाजार पूर्ण (Perfect) है** : प्रतिभूतियाँ पूर्ण बाजार की दशाओं के अन्तर्गत बेची-खरीदी जाती हैं। पूर्ण बाजार से आशय है कि

   (a) प्रतिभूतियाँ अनन्त रूप से विभाज्य (Divisible) हैं;
   (b) विनियोजक प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिए स्वतन्त्र हैं;
   (c) प्रतिभूतियों को क्रय-विक्रय करने में कोई खर्चा नहीं होता;
   (d) विनियोजक बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्हीं शर्तों पर ऋण प्राप्त कर सकते हैं जिन शर्तों पर फर्म ऋण ले सकती है;
   (e) विनियोजकों को सम्पूर्ण सूचनाएँ स्वतन्त्रता से उपलब्ध हैं; एवं
   (f) विनियोजक विवेकपूर्ण व्यवहार करते हैं।

2. **एक समान जोखिम** (Homogeneous Risk) **की फर्में** : फर्मों को समान जोखिम के आधार पर समूहों में बाँटा जा सकता है। अन्य शब्दों में, एक समूह की सभी फर्मों की सम्भावित आय समान जोखिम पर आधारित है।

3. **शुद्ध संचालन आय के विषय में संभावनाएँ** : जिस फर्म का मूल्यांकन किया जा रहा है उसकी शुद्ध संचालन आय के विषय में सभी विनियोजकों की एक जैसी आशाएँ हैं।

4. **100% भुगतान अनुपात** : लाभांश भुगतान अनुपात 100% है अर्थात् फर्म की सम्पूर्ण आय अंशधारियों में बाँट दी जाती है।

5. **कोई कॉरपोरेट टैक्स नहीं** : कोई भी कॉरपोरेट टैक्स नहीं हैं (इस मान्यता को बाद में हटा लिया गया है)

6. **विनियोग की दर** : फर्म में पूँजीकरण दर पर विनियोजन किया जाता है।

(Limitations or Criticism of MM Approach)

(i) **व्यक्तिगत एवं कॉरपोरेट लीवरेज में जोखिम की मात्रा भिन्न-भिन्न हैं** (Risk perceptions of personal and corporate leverages are different) : इस विचारधारा की यह मान्यता ठीक नहीं है कि 'व्यक्तिगत लीवरेज', 'कॉरपोरेट लीवरेज' की पूर्ण स्थानापन्न है। कॉरपोरेट संस्थाओं में विनियोक्ता का दायित्व सीमित होता है जबकि व्यक्तिगत रूप से ऋण लेने वाले का दायित्व असीमित है और उसकी व्यक्तिगत सम्पत्तियाँ भी ऋण के भुगतान के लिए प्रयोग की जा सकती हैं। अतः व्यक्तिगत रूप से ऋण लेने वाले का जोखिम अधिक होता है।

(ii) **फर्म द्वारा एवं व्यक्तिगत ऋण लेने में लागत में अन्तर** (Difference in cost of borrowing by the firm and individuals) : यह मान्यता कि फर्म तथा व्यक्तिगत विनियोजक एक समान ब्याज की दरों पर ऋण ले सकते हैं व्यवहार में सही सिद्ध नहीं होती। फर्मों के पास पर्याप्त मात्रा में स्थायी सम्पत्तियाँ होने के कारण उनकी साख (Credit rating) अच्छी होती है। अतः वह व्यक्तिगत विनियोजक की अपेक्षा कम ब्याज पर ऋण प्राप्त कर सकती हैं।

(iii) **सुविधा** (Convenience) : व्यक्तिगत ऋण की अपेक्षा कॉरपोरेट फर्मों द्वारा ऋण लेना अधिक सुविधाजनक होता है क्योंकि ऋण लेते समय अनेक औपचारिकताएँ एवं प्रक्रियाएँ पूरी करनी पड़ती हैं जो व्यक्तिगत विनियोजक के लिए काफी असुविधाजनक होती हैं।

(iv) **लेन-देन लागत** (Transaction Cost) : लेन-देन की लागत भी Arbitrage प्रक्रिया में बाधा डालती है। प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय में दलाली एवं अन्य लागतों के कारण उतनी ही आय प्राप्त करने के लिए अधिक राशि को विनियोग करने की आवश्यकता होगी। परिणामस्वरूप, लीवरेज वाली फर्म का बाजार मूल्य अधिक पाया जाएगा।

(v) **संस्थागत प्रतिबंध** (Institutional Restrictions) : Arbitrage प्रक्रिया के निर्बाध संचालन में संस्थागत प्रतिबंध भी बाधक हैं। बहुत से संस्थागत विनियोजक जैसे कि भारतीय जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया, व्यापारिक बैंक इत्यादि को व्यक्तिगत लीवरेज करने की इजाजत नहीं है।

(vi) **कॉरपोरेट टैक्स का होना** (Existence of Corporate Tax) : क्योंकि ऋणों पर ब्याज में कर की छूट प्राप्त होती है अत: लीवरेज वाली फर्म का बाजार मूल्य बिना लीवरेज वाली फर्म की अपेक्षा अधिक होगा।

लाभांश नीति
(Dividend Policy)

लाभांश कम्पनी के शुद्ध लाभों का वह भाग है जो अंशधारियों में, कम्पनी में उनके विनियोग के प्रतिफल के रूप में, वितरित किया जाता है। लाभांश कम्पनी के पूर्वाधिकार तथा समता दोनों प्रकार के अंशों पर दिया जाता है। पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश एक पूर्व निर्धारित निश्चित दर से दिया जाता है। परन्तु समता अंशों पर लाभांश देने का निर्णय प्रत्येक वर्ष के लिए अलग से लिया जाता है। कम्पनी को समता अंशों पर लाभांश देने के लिए प्रतिवर्ष अस्थायी रूप से निर्णय लेने के बजाय लाभांश देने की एक सुदृढ़ नीति का पालन करना चाहिए। लाभांश देने की एक सुनिश्चित नीति को लाभांश नीति (Dividend Policy) कहा जाता है। अतः लाभांश नीति से आशय एक ऐसी सुनिश्चित विचारधारा से है जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष यह निर्धारित किया जाता है कि व्यवसाय के शुद्ध लाभों में से कितनी राशि लाभांश के रूप में वितरित की जाएगी और कितनी राशि व्यवसाय में ही संचित रखी जाएगी। इस प्रकार, लाभांश नीति कर के पश्चात के शुद्ध लाभों अथवा आय को दो भागों में विभाजित करती है :

(*i*) लाभांश के रूप में वितरित की जाने वाली आय

(*ii*) व्यवसाय में ही संचित रखी जाने वाली आय

क्योंकि लाभांश का वितरण लाभों में से ही किया जाता है अतः व्यवसाय में लाभांश वितरण तथा संचित आयों के बीच विपरीत संबंध विद्यमान रहता है। यदि लाभों के एक बड़े हिस्से को लाभांश के रूप में वितरण किया जाता है तो संचित आय कम रह जाएगी और इसके विपरीत, यदि लाभों के छोटे हिस्से को लाभांश के रूप में वितरित किया जाता है तो संचित आय अधिक होगी। संचित आय किसी फर्म के वित्त का आसानी से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण साधन है। एक ऐसी फर्म को जो अधिक मात्रा में लाभांश घोषित करती है अपने विनियोग अवसरों के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए वित्त के बाह्य साधनों का प्रयोग करना पड़ेगा। अतः फर्म को लाभांश के रूप में वितरित किए जाने वाले लाभों के हिस्से तथा व्यवसाय में ही पुनर्विनियोजित लाभों के हिस्से के बीच चुनाव करना होगा। ऐसे चुनाव को लाभांश नीति कहा जाता है और इसका प्रभाव फर्म के दीर्घ-कालीन वित्त तथा अंशधारियों की सम्पदा दोनों पर पड़ेगा। परिणामस्वरूप, लाभांश निर्णय के विषय में दो सम्भावित दृष्टिकोण हो सकते हैं :

(1) **लाभांश निर्णयों का दीर्घ-कालीन वित्तीय दृष्टिकोण** (Long-term financing approach of dividend decisions) :– कम्पनी की दृष्टि से, करों के पश्चात के सभी शुद्ध लाभ अथवा आय लाभप्रद अवसरों में लगाने के लिए वित्त के साधन माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, लाभांश के भुगतान को कम्पनी के वित्त के साधनों में कमी माना जाता है। दो तत्त्वों के कारण कम्पनी आय को संचित करना चाहती है :

(*i*) **लाभप्रद अवसर उपलब्ध होना** (Availability of profitable opportunities) :– कम्पनी को लाभप्रद अवसरों की वित्त व्यवस्था करने के लिए कोषों की आवश्यकता होती है। अतः यदि ऐसे अवसर उपलब्ध हैं तो कम्पनी लाभांश देने की बजाय इन अवसरों की वित्त व्यवस्था के लिए अपनी आय को संचित करना पसंद करेगी।

(*ii*) **पूँजी ढाँचे के लिए समता कोषों की आवश्यकता** (Need of equity funds for capital structure):– एक कम्पनी बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के साधनों से प्राप्त किए गए कोषों का विनियोजन करती है। पूँजी ढाँचे में बाह्य अर्थात् ऋण कोषों एवं आन्तरिक अर्थात् समता कोषों के बीच उचित सन्तुलन होना चाहिए। यदि पूँजी ढाँचे में ऋण कोषों की मात्रा अधिक है तो कम्पनी को बाह्य साधनों से अतिरिक्त कोष जुटाने में कठिनाई होगी। ऐसी दशा में, कम्पनी अपनी आयों को संचित करना चाहती है।

(2) **लाभांश निर्णयों का सम्पदा अधिकतम करने का दृष्टिकोण** (Wealth maximisation approach of dividend decisions) – अंशधारियों की दृष्टि से, यह माना जाता है कि लाभांश का भुगतान अंशों के बाजार मूल्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। उच्च लाभांश से अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि हो सकती है और न्यून लाभांश से मूल्य में कमी आ सकती है। यह विश्वास किया जाता है कि अंशधारियों की सम्पदा को अधिकतम करने के लिए कम्पनी को उच्च लाभांश का भुगतान करना चाहिए। कुछ अंशधारी वर्तमान में लाभांश प्राप्त करना पसंद करते हैं जबकि कुछ अंशधारी कम्पनी द्वारा आयों को संचित करना पसंद करते हैं जिससे कि उनकी भविष्य की आय में वृद्धि हो। **वह तत्त्व जिनके कारण कुछ अंशधारी वर्तमान में ही लाभांश प्राप्त करना पसंद करते हैं निम्नलिखित हैं:**

(*i*) **अनिश्चितता में कमी** (Reduction of Uncertainty) :– भविष्य हमेशा अनिश्चित होता है। अत: यदि अंशधारियों को वर्तमान में लाभांश लेने तथा कम्पनी द्वारा लाभ संचित करने के बीच चुनाव करने का विकल्प दिया जाए तो वह वर्तमान में लाभांश लेना पसंद करेंगे। इसका कारण यह हो सकता है कि कम्पनी को भविष्य में हानियाँ उठानी पड़ सकती हैं और इसकी संचित आय में कमी आ सकती है।

(*ii*) **वर्तमान में आय की आवश्यकता** (Need for current income) :– बहुत से व्यक्ति नियमित आय प्राप्त करने के उद्देश्य से अंशों में विनियोग करते हैं। वह वर्तमान में लाभांश प्राप्त करना पसंद करते हैं क्योंकि उन्हें अपने रहन-सहन के व्यय पूरे करने के लिए वर्तमान में आय की आवश्यकता होती है।

(*iii*) **कम्पनी की सुदृढ़ता का सूचक** (Indication of soundness of the company) :– बहुत से अंशधारी उसी दशा में कम्पनी को सुदृढ़, स्वस्थ एवं विकास की क्षमता रखने वाली मानते हैं जब वह प्रति वर्ष लाभांश देती है। ऐसे अंशधारी कम्पनी द्वारा आयों को संचित करने की अपेक्षा वर्तमान में लाभांश प्राप्त करने को प्राथमिकता देते हैं।

(*iv*) **कर लाभ** (Tax benefit) :– गत वर्ष 1997-98 से लाभांश आय को अंशधारियों के लिए आय-कर से मुक्त घोषित कर दिया गया है और अब कम्पनियों को वितरित किए गए लाभांश पर लाभांश कर देना होता है। अत: अंशधारी, अंशों से प्राप्त होने वाली किसी अन्य आय जैसे कि पूँजी लाभ आदि की तुलना में लाभांश पसंद करते हैं।

अत: लाभांश नीति के निर्माण में, कम्पनी की आवश्यकताओं के अतिरिक्त अंशधारियों की इच्छाओं का भी ध्यान रखना चाहिए। जब कम्पनी लाभों के एक बड़े हिस्से को संचित कर लेती है तो प्रारम्भिक रूप में तो अंशधारियों के लाभांश में कमी आती है परन्तु संचित आयों के लाभप्रद अवसरों में विनियोग करने से उनकी भविष्य की आय में वृद्धि होती है। दूसरी तरफ, अंशधारी वर्तमान में लाभांश चाहते हैं, जिसके कारण कोषों में कमी आती है और परिणामस्वरूप कम्पनी को किसी लाभप्रद अवसर से वंचित रहना पड़ सकता है। अत: लाभांश नीति का निर्धारण करते समय उपरोक्त वर्णित दोनों दृष्टिकोणों के मध्य उचित संतुलन स्थापित किया जाना चाहिए।

DIVI

लाभांश के प्रकार

(Kinds of Dividends)

लाभांश को कई प्रारूपों में दिया जा सकता है। लाभांश के प्रमुख प्रारूप (Forms) निम्नलिखित हैं:

(1) **नकद लाभांश** (Cash Dividend) :– नकद लाभांश देना, लाभांश का सर्वाधिक प्रचलित प्रारूप है। अधिकांश कम्पनियाँ नकद में ही लाभांश देती हैं। नकद लाभांश का भुगतान कम्पनी के पास नकद शेष की उपलब्धि पर निर्भर करता है। अतः नकद लाभांश घोषित करने से पूर्व, आवश्यक राशि का पहले से ही अनुमान लगा लेना चाहिए अन्यथा नकद लाभांश देने के लिए कम्पनी को ऋण लेना पड़ सकता है। नकद लाभांश से कम्पनी के संचयों और सम्पत्तियों में कमी आती है।

(2) **स्कन्ध लाभांश या बोनस अंश** (Stock Dividend or Bonus Shares) :– कभी-कभी नकद लाभांश देने के स्थान पर कम्पनियाँ अपने वर्तमान अंशधारियों को निःशुल्क अंश निर्गमित कर देती हैं। इन निःशुल्क अंशों को बोनस अंश कहा जाता है। यू.एस.ए. में इन्हें स्कन्ध लाभांश कहा जाता है। बोनस अंशों का निर्गमन वर्तमान अंशधारियों को उनके वर्तमान अंशों से एक निश्चित अनुपात में किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि एक कम्पनी 10% (अर्थात 1 : 10) स्कन्ध लाभांश घोषित करती है तो एक अंशधारी को जिसके पास 100 अंश हैं 10 बोनस अंश लाभांश के रूप में प्राप्त हो जाएँगे और उसके पास कुल 110 अंश हो जाएँगे। स्कन्ध लाभांश से कम्पनी के संचय (Reserves) कम हो जाते हैं परन्तु कम्पनी की अंश पूँजी बढ़ जाती है। इस प्रकार, कम्पनी का शुद्ध मूल्य (Net Worth) अपरिवर्तित रहता है जबकि नकद लाभांश की दशा में शुद्ध मूल्य कम हो जाता है। स्कन्ध लाभांश कम्पनी तथा अंशधारियों दोनों के लिए लाभदायक रहता है।

कम्पनी के लिए स्कन्ध लाभांश के निम्नलिखित लाभ हैं :

(*i*) **कोई रोकड़ बहिर्वाह नहीं** (No Cash Outflow) :– स्कन्ध लाभांश का भुगतान कम्पनी में से बिना कोई रोकड़ बाहर जाए किया जाता है। बचत की गई रोकड़ को लाभप्रद अवसरों (profitable opportunities) में विनियोजित किया जा सकता है और कम्पनी को बाह्य साधनों से अतिरिक्त कोष जुटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(*ii*) **वित्तीय कठिनाई के समय स्कन्ध लाभांश देना सम्भव** (Stock Dividend is possible in case of Financial Difficulty) :– कभी-कभी पर्याप्त आय होने पर भी, नकद लाभांश देने के लिए कम्पनी के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ शेष नहीं होता। ऐसी स्थिति में, कम्पनी अपने अंशों के रूप में लाभांश दे सकती है।

(*iii*) **अधिक आकर्षक अंश मूल्य** (More Attractive Share Price) :– कभी-कभी बोनस अंशों के निर्गमन का उद्देश्य कम्पनी के अंशों के बाजार मूल्य में गिरावट लाना होता है जिससे यह अंश विनियोजकों के लिए आकर्षक हो जाएँ। बोनस अंशों के कारण कम्पनी के अंशों के बाजार मूल्य के घटने तथा बाजार में अधिक अंशों के उपलब्ध होने के कारण स्टॉक एक्सचेंज में कम्पनी के अंशों में व्यापारिक गतिविधि बढ़ जाती है।

(*iv*) **प्रसिद्धि में वृद्धि** (Increase in Reputation) :– बोनस निर्गमन की घोषणा से कम्पनी की प्रसिद्धि एवं ख्याति में वृद्धि होती है क्योंकि इसे विनियोजकों द्वारा अनुकूल समाचार माना जाता है। इसे कम्पनी की बढ़ती हुई आय तथा उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक माना जाता है।

ंशधारियों के लिए स्कन्ध लाभांश के निम्नलिखित लाभ हैं :

(*i*) **भावी लाभांश में वृद्धि** (Increase in Future Dividends) :– कम्पनी द्वारा स्कन लाभांश देना इस बात का संकेत करता है कि कम्पनी में विनियोग के लाभप्रद अवसर मौजूद और यह भविष्य में ऊँची दर से लाभांश देगी। इसके अतिरिक्त अंशधारी के पास अंशों की संख

में वृद्धि होने के कारण भी वह भविष्य में अधिक लाभांश का अधिकारी होगा। उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक कम्पनी प्रति वर्ष 1₹ प्रति अंश लाभांश देती है और एक अंशधारी को जिसके पास 100 अंश मौजूद है 50 बोनस अंश दिए जाते हैं, तो उसे भविष्य में 100₹ की बजाए 150₹ लाभांश प्राप्त होगा।

(*ii*) **अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि** (Increase in Market Value of Shares) :– एक ऐसी कम्पनी को जो स्कन्ध लाभांश देती है मनोवैज्ञानिक रूप से विकासशील कम्पनी माना जाता है। इससे अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि होती है। अंशधारी स्कन्ध लाभांश के रूप में प्राप्त किए गए अंशों को बेचकर पूँजीगत लाभ अर्जित कर सकते हैं और उनके पहले के अंश उतने के उतने ही रहते हैं।

(*iii*) **अंशधारियों के आनुपातिक स्वामित्व में कमी नहीं आती** (Does not Reduce the Proportional Ownership of Shareholders) :– कम्पनी द्वारा अपने अंशधारियों को कम्पनी में उनके वर्तमान अंशों के अनुपात में स्कन्ध लाभांश के अंश दिए जाते हैं। अतः प्रत्येक अंशधारी एक निश्चित हिस्से के लिए कम्पनी का स्वामी रहता है और स्कन्ध लाभांश से उसके हिस्से में कमी नहीं आती। दूसरी तरफ, यदि कोई कम्पनी सार्वजनिक रूप से नये अंश निर्गमित करती है तो उनके आनुपातिक स्वामित्व में कमी आ जाएगी क्योंकि नये विनियोक्ता भी कम्पनी के अंशधारी बन जाते हैं।

(3) **स्क्रिप लाभांश** (Scrip Dividend) :– कभी-कभी कम्पनी के पास नकद रोकड़ की अल्पकालीन तंगी होती है। ऐसी दशा में कम्पनी अंशधारियों को सर्टीफिकेट या प्रतिज्ञा पत्र दे देती है जिसमें कम्पनी की तरफ से यह प्रतिज्ञा होती है कि उन्हें निकट भविष्य में निश्चित तिथि को लाभांश दे दिया जाएगा। भारतवर्ष में इस प्रकार का लाभांश प्रचलन में नहीं है।

(4) **बांड लाभांश** (Bond Dividend) :– स्क्रिप लाभांश तथा बांड लाभांश में केवल इतना अन्तर है कि बांड, स्क्रिप की तुलना में, लम्बी अवधि वाले होते हैं। अतः स्क्रिप लाभांश से तो चालू दायित्वों में वृद्धि होती है जबकि बांड लाभांश दीर्घ-कालीन दायित्वों में वृद्धि करते हैं। भारतवर्ष में ऐसा लाभांश भी प्रचलन में नहीं है।

(5) **सम्पत्ति लाभांश** (Property Dividend) :– इसके अंतगत लाभांश नकदी में न देकर कम्पनी की सम्पत्ति के रूप में दिया जाता है। कम्पनी नकद लाभांश के बदले में अपने उत्पादों के रूप में लाभांश दे सकती है। उदाहरणतया एक घड़ियाँ निर्माण करने वाली कम्पनी अपने अंशधारियों को घड़ियों के रूप में सम्पत्ति लाभांश दे सकती है। भारतवर्ष में इस प्रकार का लाभांश प्रचलन में नहीं है।

(6) **संयुक्त लाभांश** (Composite Dividend) :– उपरोक्त वर्णित प्रारूपों में से यदि एक से अधिक प्रारूप में लाभांश दिया जाए तो इसे संयुक्त लाभांश कहा जाता है।

लाभांश नीति के प्रकार

(Types of Dividend Policy)

कोई अकेली लाभांश नीति ऐसी नहीं हो सकती जो सभी प्रकार की कम्पनियों के लिए उपयुक्त हो। इसका कारण यह है कि सभी कम्पनियाँ अपनी उत्पादों की प्रकृति, विक्रय की प्रवृति, लाभों के स्तर, तरलता की स्थिति और लाभप्रद विनियोग के अवसरों के विषय में भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः किसी विशेष कम्पनी को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए उसके लिए लाभांश नीति का निर्धारण करना होगा। लाभांश नीतियाँ कई प्रकार की होती हैं जिनमें से एक उचित लाभांश नीति का चयन किया जा सकता है। ये नीतियाँ निम्न प्रकार की हैं :

(1) **स्थिर लाभांश नीति** (Stable Dividend Policy) :– कम्पनी नियमित रूप से एक स्थिर लाभांश देने की नीति बना सकती है। ऐसी नीति के अन्तर्गत अंशधारियों को प्रति अंश एक निश्चित लाभांश पाने का आश्वासन होता है। स्थिर लाभांश निम्न में से किन्हीं एक रूप में घोषित किए जा सकते हैं :

(*i*) वर्तमान स्तर पर, अथवा (*ii*) निम्न स्तर पर, अथवा (*iii*) उच्च स्तर पर।

(*i*) **वर्तमान स्तर पर स्थिर लाभांश** (Stable Dividends at the Present Level) :– इस नीति के अन्तर्गत लाभांश की एक स्थिर दर जितनी पिछले वर्ष थी बनाए रखी जाती है। समृद्धि के वर्षों में फर्म द्वारा अपनी सभी अतिरिक्त आयों को रोक कर रख लिया जाता है जिसका प्रयोग कम आय वाले वर्षों में लाभांश की दर को स्थिर बनाए रखने के लिए किया जाता है। इस नीति से अंशधारियों की वर्तमान आय की इच्छा भी पूरी हो जाती है और कम्पनी के अंशों के बाजार मूल्य पर भी प्रभाव नहीं पड़ता।

(*ii*) **निम्न स्तर पर स्थिर लाभांश** (Stable Dividends at a Lower Level) :– यदि किसी कम्पनी को विनियोग के अनुकूल अवसर उपलब्ध हैं और उसे इन अवसरों का लाभ उठाने के लिए कोषों की आवश्यकता है, तो यह लाभांश का एक नया निम्न स्तर निर्धारित कर देती है और अंशधारियों को यह आश्वासन दे देती है कि भविष्य में लाभांश इस स्तर पर बनाए रखे जाएँगे। इस नीति से अंशधारियों की वर्तमान आय में कमी आती है और अंशों के बाजार मूल्य में भी गिरावट आ सकती है।

(*iii*) **उच्च स्तर पर स्थिर लाभांश** (Stable Dividends at a Higher Level) :– प्रबंधक अपने एक नीतिगत निर्णय द्वारा नियमित लाभांश के स्तर में वृद्धि कर सकते हैं। ऐसा निर्णय उसी समय लिया जाता है जब प्रबंधक यह अनुभव करते हैं कि कम्पनी की आयों में स्थायी रूप से वृद्धि हो गई है और बढ़ी हुई आय से बढ़ा हुआ लाभांश स्थायी रूप से दिया जा सकेगा। लाभांश की स्थिर दर में वृद्धि से कम्पनी के अंशों का बाजार मूल्य बढ़ जाता है।

(2) **निम्न नियमित लाभांश तथा अतिरिक्त लाभांश नीति** (Low Regular Dividends Plus Extra Dividends Policy) :– इस नीति के अन्तर्गत, लाभांश की एक निम्न दर निर्धारित कर दी जाती है और इस दर से नियमित रूप से लाभांश दिया जाता है परन्तु असाधारण आय वाले वर्षों में अतिरिक्त लाभांश भी दिया जाता है। यह नीति ऐसी कम्पनियों द्वारा अपनाई जाती है जिनकी आय में प्रतिवर्ष काफी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।

(3) **आय में उतार-चढ़ाव के अनुसार परिवर्तनशील लाभांश नीति** (Dividends Fluctuating with Earnings Policy) :– इस नीति के अन्तर्गत, कम्पनी की आय में उतार-चढ़ाव के अनुसार ही लाभांश में भी परिवर्तन किया जाता है। अतः लाभांश में प्रतिवर्ष उतार-चढ़ाव आता रहता है। यदि कम्पनी को अधिक आय होती है तो अंशधारियों को भी अधिक लाभांश मिलता है और कम आय होने पर कम लाभांश मिलता है। ऐसी नीति, संचित आय के लाभप्रद अवसरों में प्रयोग करने के लिए प्रबंध को अधिक लोचशीलता प्रदान करती है परन्तु लाभांश की अनिश्चितता से कम्पनी के अंशों के बाजार मूल्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(4) **वर्तमान में लाभांश न देने की नीति** (Policy of No Dividend at Present) – ऐसी नीति अपनाने के दो कारण हैं :

(*i*) जब कम लाभों के कारण कम्पनी लाभांश देने की स्थिति में नहीं है।

(*ii*) जब कम्पनी को अपने विस्तार कार्यक्रमों के लिए अत्यधिक मात्रा में धन की आवश्यकता है और इसलिए यह समस्त लाभों को संचित करने का निर्णय ले लेती है।

लाभांश न देने की नीति का अंशों के बाजार मूल्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है अतः प्रबंध को अंशधारियों को यह आश्वासन देना चाहिए कि निकट भविष्य में उन्हें उच्च दर से लाभांश दिया जाएगा।

स्थिर लाभांश नीति या लाभांश की स्थिरता
(Stable Dividend Policy or Stability of Dividends)

लाभांश की स्थिरता से आशय लाभांश के भुगतान में समरूपता (Consistency) का होना अथवा परिवर्तनशीलता का न होना है। इसका अर्थ है कि प्रतिवर्ष एक न्यूनतम लाभांश अवश्य दिया जाएगा। व्यवहार में अधिकांश कम्पनियों के प्रबंधक इस नीति को एक अच्छी नीति मानते हैं। अंशधारी भी परिवर्तनशील लाभांशों की तुलना में स्थिर लाभांश नीति को अधिक पसंद करते हैं। लाभांश की स्थिरता निम्नलिखित तीन प्रारूपों में से किसी भी प्रारूप में हो सकती है :

(*i*) **प्रति अंश स्थिर लाभांश** (Constant Dividend Per Share) – इस नीति के अन्तर्गत कम्पनियाँ प्रति अंश एक निश्चित राशि प्रति वर्ष लाभांश के रूप में देती हैं। उदाहरण के लिए, एक अंश जिसका अंकित मूल्य 10₹ है, उस पर कम्पनी एक निश्चित राशि जैसे कि 2.50₹ लाभांश के रूप में दे सकती है। यह राशि अवश्य ही दी जाएगी चाहे आय में कितना ही उतार-चढ़ाव क्यों न हो। वास्तव में तो, यह लाभांश उन वर्षों में भी दिया जाएगा जिन वर्षों में कम्पनी को हानि हुई हो। परन्तु, इस नीति का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमेशा के लिए ही लाभांश की यह राशि स्थिर हो गई है। जब कम्पनी की आय एक नए स्तर तक पहुँच जाती है और यह अनुभव किया जाता है कि आय का यह नया स्तर भविष्य में भी कायम रहेगा तो लाभांश में वृद्धि कर दी जाती है।

प्रति अंश स्थिर लाभांश की नीति उन कम्पनियों के लिए उपयुक्त रहती है जिनकी आय काफी वर्षों तक स्थिर रहने की आशा है।

(*ii*) **स्थिर लाभांश भुगतान अनुपात** (Constant Dividend Payout Ratio) – यह स्थिर लाभांश नीति का एक अन्य प्रारूप है। इस नीति के अन्तर्गत, फर्म अपनी शुद्ध आय के एक निश्चित प्रतिशत को अंशधारियों को लाभांश के रूप में देती है परिणामस्वरूप लाभांश की राशि में आय के अनुपात में उतार-चढ़ाव होता रहता है। उदाहरण के लिए, यदि एक कम्पनी 30% का लाभांश भुगतान अनुपात अपनाती है तो इसका अर्थ है कि कम्पनी अपने द्वारा कमाए गए प्रत्येक 1₹ में से 30 पैसे अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित करेगी। यदि इसकी प्रति अंश आय (Earning Per Share or EPS) 10₹ है तो यह 3₹ प्रति अंश की दर से लाभांश वितरित करेगी और यदि कम्पनी को हानि हो जाती है तो यह कोई लाभांश नहीं देगी।

(*iii*) **प्रति अंश स्थिर लाभांश तथा अतिरिक्त लाभांश** (Constant Dividend Per Share Plus Extra Dividend) – इस नीति के अन्तर्गत, फर्म अपने अंशधारियों को प्रति अंश स्थिर लाभांश देती है और अधिक आय वाले वर्षों में इस नियमित लाभांश के साथ-साथ अतिरिक्त लाभांश भी देती है। इस प्रकार की नीति उन कम्पनियों द्वारा अपनाई जाती है जिनकी आय में भारी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।

उपरोक्त वर्णित स्थिर लाभांश की तीनों नीतियों में से विनियोक्ता प्रथम प्रकार की 'प्रति अंश स्थिर लाभांश नीति' को अधिक पसंद करते हैं। ऐसी फर्मों के अंशों का बाजार मूल्य उन फर्मों की तुलना में अधिक रहता है जिनके लाभांशों में आय में उतार-चढ़ाव के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

लाभांश की स्थिरता का महत्त्व
(Significance of Stability of Dividends)

स्थिर लाभांश नीति अंशधारियों तथा कम्पनी दोनों के लिए लाभदायक है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं:

(1) **विनियोक्ताओं की वर्तमान आय की इच्छा की पूर्ति** (Fulfilment of Investor's Desire for Current Income) – बहुत से विनियोक्ता जैसे सेवानिवृत्त व्यक्ति, विधवाएँ इत्यादि अपने रहन-सहन के व्ययों की पूर्ति के लिए नियमित आय की इच्छा रखते हैं। यदि कोई कम्पनी कम लाभांश

घोषित करती है तो उन्हें अपने वर्तमान व्ययों की पूर्ति के लिए धन प्राप्त करने के लिए अपने अंश बेचने पड़ सकते हैं। अतः वे ऐसी कम्पनी की तुलना में जो अस्थिर लाभांश देती हो, एक ऐसी कम्पनी के अंशों के लिए अधिक मूल्य देने को तैयार रहते हैं जो स्थिर लाभांश देती हो।

(2) **विनियोक्ताओं की अनिश्चितता की समाप्ति** (Resolution of Investor's Uncertainty)— जब एक फर्म स्थिर लाभांश की नीति अपनाती है तो वह अपनी आय में परिवर्तन हो जाने पर भी लाभांश की दर में परिवर्तन नहीं करती। अतः जब कम्पनी की आय में गिरावट आती है और वह फिर भी पिछले वर्षों जितना लाभांश देती है तो यह विनियोजकों को इस प्रकार का संकेत देता है कि आय में गिरावट के बावजूद भी कम्पनी का भविष्य उज्ज्वल है और इसके अंशों का मूल्य स्थिर रहता है। इसके विपरीत, यदि आय में गिरावट आने पर कम्पनी लाभांश की दर में कमी कर देती है तो विनियोजकों के मस्तिष्क में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है और अंशों के मूल्य में गिरावट आ जाती है।

(3) **संस्थागत विनियोक्ताओं की आवश्यकताएँ** (Requirements of Institutional Investor's) – स्थिर लाभांश नीति को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व संस्थागत विनियोक्ताओं जैसे कि IFCI, IDBI, LIC, GIC, UTI इत्यादि की आवश्यकताएँ हैं। ये संस्थाएँ भारी मात्रा में अंशों का क्रय करती हैं और इस प्रकार अपने द्वारा खरीदे गए अंशों के मूल्य को प्रभावित करती हैं। यह केवल उन्हीं कम्पनियों के अंश क्रय करती हैं जो निरन्तर और स्थिर लाभांश देती हैं। अतः इन संस्थाओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कम्पनियाँ स्थिर लाभांश की नीति अपनाना पसंद करती हैं।

(4) **अतिरिक्त वित्त की व्यवस्था** (Raising Additional Finances) – स्थिर लाभांश नीति कम्पनी के लिए बाह्य साधनों से वित्त एकत्रित करने के लिए लाभकारी रहती है। विनियोक्ता प्रायः उन्हीं कम्पनियों के अंश क्रय करते हैं जिनका निरन्तर स्थिर लाभांश देने का रिकार्ड रहा हो। स्थिर लाभांश नीति ऋणपत्रों तथा पूर्वाधिकार अंशों के निर्गमन में भी सहायक रहती है क्योंकि नियमित रूप से लाभांश का भुगतान इन प्रतिभूतियों के क्रेताओं के लिए इस बात का पर्याप्त आश्वासन है कि कम्पनी ब्याज अथवा पूर्वाधिकार लाभांश के भुगतान में तथा मूलधन की वापसी में कोई त्रुटि नहीं करेगी।

(5) **दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन में सहायक** (Helpful in Long-term Financial Planning) – स्थिर लाभांश नीति अपनाने वाली कम्पनियों के लिए दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन करने में भी आसानी रहती है क्योंकि ये लाभांश देने के लिए कोषों की आवश्यकता का ठीक-ठीक पूर्वानुमान लगा सकती हैं।

लाभांश नीति को निर्धारित करने वाले तत्त्व

(Factors Determining Dividend Policy)

किसी फर्म की लाभांश नीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं :

(1) **फर्म की वित्तीय आवश्यकताएँ** (Financial Needs of the Firm) – फर्म की वित्तीय आवश्यकताएँ इसे उपलब्ध विनियोग के अवसरों से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित हैं। यदि किसी फर्म को लाभप्रद विनियोजन के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हैं तो वह कम लाभांश वितरित करने की नीति अपनाएगी। वह अपनी आय के एक बड़े भाग को अपने पास रोकना पसंद करेगी क्योंकि वह इस आय को अंशधारियों से भी ऊँची दर पर विनियोग कर सकती है। आय को रोकने का एक दूसरा कारण यह है कि नई पूँजी निर्गमित करना असुविधाजनक भी है तथा खर्चीला भी। इसके विपरीत, यदि फर्म को विनियोग के बहुत कम अथवा कोई अवसर उपलब्ध नहीं हैं तो इसे अपनी आय के बहुत कम हिस्से को ही रोकना चाहिए और शेष को लाभांश के रूप में बाँट देना चाहिए।

(2) **लाभांश की स्थिरता** (Stability of Dividends) – विनियोक्ता सदैव स्थिर लाभांश नीति को पसंद करते हैं। वे अपेक्षा करते हैं कि उन्हें एक निश्चित दर से लाभांश मिलता रहे जो आगामी वर्षों में

शनैः शनैः बढ़ता जाए। अतः लाभांश नीति का निर्धारण करते समय लाभांश की स्थिरता के लाभों को ध्यान में रखना चाहिए जैसे विनियोक्ताओं की वर्तमान आय की इच्छा, विनियोक्ताओं की अनिश्चितता की समाप्ति, संस्थागत विनियोक्ताओं की आवश्यकताएँ आदि।

(3) **वैधानिक प्रतिबंध** (Legal Restrictions) – फर्म की लाभांश नीति को वैधानिक प्रावधानों तथा प्रतिबंधों के अनुरूप बनाया जाना चाहिए। उदाहरणतया भारतीय कम्पनी अधिनियम 2013 की धारा 123 के अनुसार लाभांश केवल वर्तमान अथवा गत वर्षों के लाभों में से ह्रास का प्रावधान करने के पश्चात ही दिया जा सकता है। इसी प्रकार, यदि कोई पिछली हानियाँ संचित हैं तो लाभांश घोषित करने से पूर्व इन्हें चालू वर्ष के लाभों से अपलिखित करना अनिवार्य है।

(4) **ऋण ठहरावों में प्रतिबंध** (Restrictions in Loan Agreements) – ऋणदाता, मुख्यतः वित्तीय संस्थाएँ अपने हितों की सुरक्षा के लिए लाभांश के भुगतान पर कुछ प्रतिबंध लगा देती हैं। उदाहरणतया ऋण ठहराव में यह पाबंदी लगाई जा सकती है कि लाभांश का भुगतान तब तक न किया जाए जब तक कि फर्म का चालू अनुपात 2 : 1 से कम है अथवा ऋण-समता अनुपात 1.5 : 1 से अधिक है। वह लाभांश भुगतान की केवल ऐसी दशा में स्वीकृति दे सकती हैं जबकि एक न्यूनतम राशि उनके ऋण के शोधन के लिए स्थापित किए गए 'सिंकिंग फन्ड' में हस्तांतरित कर दी गई हो। इसी प्रकार, वह एक निश्चित प्रतिशत जैसे कि 10% से अधिक के लाभांश भुगतान पर पाबंदी लगा सकती हैं। वैकल्पिक रूप से, वह लाभांश में प्रयोग किए जाने वाले लाभों की अधिकतम सीमा निर्धारित कर सकती हैं जैसे कि शुद्ध लाभ का 40% से अधिक लाभांश में प्रयोग नहीं किया जाए। जब ऐसी पाबंदियाँ लगाई जाती हैं तो कम्पनी को लाभांश भुगतान अनुपात नीचा रखना पड़ता है।

(5) **तरलता** (Liquidity) – लाभांश के भुगतान से रोकड़ का पर्याप्त मात्रा में बहिर्वाह (Outflow) होता है। यद्यपि एक फर्म के लाभ पर्याप्त हो सकते हैं परन्तु हो सकता है कि लाभांश भुगतान के लिए इसके पास पर्याप्त रोकड़ न हो। ऐसा प्रायः उस समय होता है जब अधिकांश बिक्री उधार की गई हो और फर्म की रोकड़ को सम्पत्तियों के विस्तार अथवा दायित्वों के भुगतान में प्रयोग कर लिया गया हो। ऐसी स्थिति ऐसी विकासशील फर्मों में आमतौर पर पाई जाती है जिन्हें अपनी बढ़ती हुई गतिविधियों और स्थायी कार्यशील पूँजी के लिए कोषों की आवश्यकता रहती है। अतः लाभांश के आकार के निर्धारण में रोकड़ की स्थिति एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। फर्म की रोकड़ और तरलता की स्थिति जितनी अच्छी होगी इसके लाभांश भुगतान की क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी।

(6) **पूँजी बाजार तक पहुँच** (Access to Capital Market) – यदि किसी कम्पनी की पूँजी बाजार तक पहुँच हो तो वह पर्याप्त तरल साधन हुए बिना भी लाभांश दे सकती है। अन्य शब्दों में, यदि कोई कम्पनी पूँजी बाजार से ऋण अथवा समता पूँजी प्राप्त कर सकती है तो यह अपनी तरलता की स्थिति अच्छी न होने पर भी लाभांश दे सकेगी। पूँजी बाजार से कोष एकत्रित करने की क्षमता का मूल्यांकन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कोषों की लागत क्या होगी तथा इन्हें कितनी शीघ्रता से एकत्रित किया जा सकेगा। प्रायः नई फर्मों की अपेक्षा पुरानी फर्मों की पूँजी बाजार में अधिक पहुँच होती है।

(7) **आय की स्थिरता** (Stability of Earnings) – आय की स्थिरता का भी किसी फर्म की लाभांश नीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साधारणतया आय की स्थिरता जितनी अधिक होती है लाभांश भुगतान अनुपात भी उतना ही अधिक होता है। इसका कारण यह है कि इन फर्मों को, भविष्य के वर्षों में भी, ऊँचे लाभांश अनुपात को कायम रखने का पूरा विश्वास होता है। उदाहरण के लिए, जनोपयोगी कम्पनियों (Public Utility Companies) की आय प्रायः स्थिर पाई जाती है अतः इनका लाभांश भुगतान अनुपात प्रायः उच्च ही पाया जाता है।

(8) **नियंत्रण बनाए रखने का उद्देश्य** (Objective of Maintaining Control) – कभी-कभी लाभांश नीति का प्रयोग वर्तमान प्रबंधकों द्वारा कम्पनी के नियन्त्रण को अपने ही हाथों में बनाए रखने के लिए भी किया जाता है। जब एक कम्पनी उच्च लाभांश देती है तो इससे इसकी तरलता की स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और इसे अपने विनियोग अवसरों के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए नए अंश निर्गमित करने पड़ सकते हैं। यदि वर्तमान अंशधारी नये अंश क्रय नहीं करना चाहते अथवा क्रय नहीं कर सकते तो कम्पनी पर उनका नियंत्रण कम हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति में प्रबंधक निम्न दर से लाभांश घोषित करेंगे और विनियोग अवसरों में धन लगाने के लिए आय को रोक कर रखेंगे।

(9) **प्रति अंश आय पर प्रभाव** (Effect on Earning Per Share) – जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, उच्च लाभांश भुगतान अनुपात से कम्पनी की तरलता की स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और इससे निकट भविष्य में नए समता अंश निर्गमित करने पड़ सकते हैं जिससे समता अंशों की संख्या में वृद्धि हो जाएगी और परिणामस्वरूप प्रति अंश आय में कमी आ सकती है। दूसरी ओर, निम्न लाभांश भुगतान अनुपात रखने से फर्म अपनी आयों के एक बड़े भाग को रोककर कम्पनी में ही पुनः विनियोग कर सकती है जिससे इसकी भावी आय में वृद्धि होगी और परिणामस्वरूप प्रति अंश आय में भी वृद्धि होगी।

(10) **फर्म की संभावित आय दर** (Firm's Expected Rate of Return) – यदि फर्म की संभावित आय दर उस दर से कम होने की संभावना है जो अंशधारियों द्वारा अपने धन का बाह्य विनियोग करके स्वयं कमाई जा सकती है तो फर्म को अपनी आय के बहुत थोड़े हिस्से को ही अपने पास रोकना चाहिए और लाभांश भुगतान अनुपात उच्च रखना चाहिए।

(11) **मुद्रास्फीति** (Inflation) – मुद्रा स्फीति से भी लाभांशों के उच्च भुगतान में बाधा पड़ सकती है। ह्रास सम्पत्ति की मूल लागत पर लगाया जाता है और परिणामस्वरूप जब मूल्य स्तर में वृद्धि होती है तो ह्रास द्वारा उपलब्ध कराए गए कोष अप्रचलित सम्पत्तियों के पुनर्स्थापन के लिए अपर्याप्त रह जाते हैं। अतः कम्पनी को मुद्रा स्फीति के समय अपनी आयों के अधिक भाग को सम्पत्तियों की पुनर्स्थापना के लिए रखना होगा जिससे उनका लाभांश भुगतान अनुपात कम रह जाएगा।

(12) **अर्थव्यवस्था की स्थिति** (General State of Economy) – फर्म की आय पर देश की आर्थिक दशाओं का भी प्रभाव पड़ता है। यदि देश की भावी आर्थिक दशाएँ अनिश्चित हैं तो फर्म अपनी आय के एक बड़े भाग को रोक कर रखेगी जिससे कि आकस्मिकताओं का सामना किया जा सके। इसी प्रकार, मन्दी की दशा में, जब व्यावसायिक गतिविधियों का स्तर बहुत नीचा होता है तो तरलता बनाए रखने के उद्देश्य से प्रबंधक लाभांश भुगतान अनुपात में कमी कर सकते हैं।

लाभांश नीति का निर्माण करने से पूर्व उपरोक्त सभी तत्वों का ध्यान रखना चाहिए।

लाभांश नीति के उद्देश्य अथवा महत्त्व अथवा परिणाम
(Objectives or Significance or Consequences Dividend Policy)

सैद्धान्तिक रूप से लाभांश नीति का उद्देश्य अंशधारी के प्रत्याय (Return) को अधिकतम करना होना चाहिए जिससे कि उसके विनियोगों का मूल्य अधिकतम हो सके। अंशधारी के प्रत्याय में लाभांश तथा पूँजी लाभ सम्मिलित होते हैं। लाभांश नीति का प्रत्याय के इन दोनों हिस्सों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

'लाभांश नीति' शब्द दो अनुपातों से सम्बन्धित है : भुगतान अनुपात (Payout Ratio) तथा आय को रोक रखने का अनुपात (Retention Ratio)। भुगतान अनुपात आय का वह प्रतिशत है जो लाभांश के रूप में वितरित किया जाता है जैसे कि यदि फर्म की कुल आय 1,00,000₹ है और कम्पनी इसका 20% अपने अंशधारियों में वितरित करती है तो Payout Ratio 20% होगी। Retention Ratio को 100% में से Payout Ratio घटा कर ज्ञात किया जाता है। जैसे कि इस उदाहरण में Retention Ratio 100% - 20% = 80% होगी।

कोई भी कम्पनी या तो उच्च भुगतान नीति अपना सकती है अथवा न्यून भुगतान नीति। उच्च भुगतान नीति का अर्थ है अधिक वर्तमान लाभांश और कम संचित आय जिसका परिणाम यह हो सकता है कि फर्म का विकास धीमी गति से हो और प्रति अंश मूल्य भी कम हो जाए। न्यून भुगतान नीति का अर्थ है कम वर्तमान लाभांश एवं अधिक संचित आय, जिसके फलस्वरूप फर्म का विकास तीव्र गति से हो सकता है, अंशधारियों को पूँजीगत लाभ प्राप्त हो सकते हैं और प्रति अंश बाजार मूल्य बढ़ सकता है। पूँजीगत लाभ भविष्य में प्राप्त होने वाली आय है जबकि लाभांश वर्तमान आय है।

लाभांश भुगतान से फर्म से रोकड़ का बहिर्गमन (Outflow) होता है। लाभांश देने के लिए रोकड़ का उपलब्ध होना फर्म के विनियोग निर्णय एवं वित्तीय निर्णय से प्रभावित होता है। यदि कोई कम्पनी कोई बड़ा विनियोग अर्थात् पूँजीगत व्यय करने का निर्णय लेती है तो इसके पास लाभांश देने के लिए कम रोकड़ राशि रह जाएगी। अतः विनियोग निर्णय का प्रभाव लाभांश निर्णय पर पड़ता है।

लाभांश नीति से सम्बन्धित विचारधाराएँ
(Dividend Policy Theories)

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या फर्म का मूल्य लाभांश नीति में परिवर्तन से प्रभावित होता है? क्या लाभांश नीति एवं फर्म के मूल्य में कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है? लाभांश नीति तथा फर्म के मूल्य में सम्बन्ध के विषय में कई प्रकार की विचारधाराएँ प्रतिपादित की गई हैं। इन विचारधाराओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) प्रथम वर्ग में वह विचारधाराएँ आती हैं जो लाभांश निर्णय को फर्म के मूल्य से सम्बन्धित (Relevant) मानती हैं। अन्य शब्दों में, यह विचारधाराएँ यह सिद्ध करती हैं कि लाभांश नीति का चुनाव फर्म के मूल्य को प्रभावित करता है। इन विचारधाराओं में प्रमुख हैं :

(a) वाल्टर मॉडल (Walter's Model)

(b) गोर्डन मॉडल (Gordon's Model)

(ii) द्वितीय वर्ग में वे विचारधाराएँ आती हैं जो लाभांश निर्णय को फर्म के मूल्य से असम्बन्धित (Irrelevant) मानती हैं। अन्य शब्दों में, यह विचारधाराएँ यह सिद्ध करती हैं कि लाभांश नीति का चुनाव फर्म के मूल्य को प्रभावित नहीं करता है। इन विचारधाराओं में प्रमुख है :

मोडीगिल्यानी एवं मिल्लर विचारधारा (Modigliani and Miller Approach)

इन विचारधाराओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन निम्न प्रकार है :

(i) (a) **वाल्टर मॉडल** (Walter's Model) :

वाल्टर मॉडल इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि लाभांश नीति फर्म के मूल्य से सम्बन्धित (Relevant) है। वाल्टर के अनुसार, फर्म की विनियोग नीति तथा इसकी लाभांश नीति एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

वाल्टर मॉडल की विचारधारा में मुख्य रूप से दो तत्वों के बीच सम्बन्ध सम्मिलित है। ये दो तत्व हैं (अ) फर्म के विनियोगों पर प्रत्याय अथवा आन्तरिक प्रत्याय दर (Return on firm's investments or internal rate of return *i.e.* r) तथा (ब) पूँजी की लागत अथवा वांछित प्रत्याय दर (Cost of Capital or required rate of return *i.e.* K_e)। वाल्टर विचारधारा के अनुसार फर्म की अनुकूलतम लाभांश नीति r तथा K_e के बीच सम्बन्ध से निर्धारित होगी। अन्य शब्दों में, यदि फर्म के विनियोगों पर प्रत्याय दर फर्म की पूँजी की लागत से अधिक है अर्थात् $r > K_e$, तो फर्म को अपनी आय को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरण करने की बजाय संचित करना चाहिए क्योंकि इस धनराशि को यदि अंशधारियों में बाँट दिया जाता तो इसके विनियोग से अंशधारी जितना लाभ अर्जित करते फर्म उससे अधिक दर से लाभ अर्जित कर

रही है। इसके विपरीत यदि r, K_e से कम है अर्थात् $r < K_e$, तो फर्म को इस धनराशि को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित कर देना चाहिए क्योंकि अंशधारी इसे अन्य कहीं पर विनियोग करके अधिक दर से प्रत्याय अर्जित कर सकते हैं।

अत: वाल्टर मॉडल लाभांश वितरण एवं आय के संचित करने के प्रश्न को फर्म के पास जो विनियोग अवसर उपलब्ध हैं उनसे सम्बन्धित कर देता है। यदि किसी फर्म को पर्याप्त रूप से लाभप्रद विनियोग अवसर उपलब्ध हैं तो यह विनियोजकों की आशाओं से भी अधिक आय अर्जित कर सकेगी क्योंकि विनियोग पर प्रत्याय की दर (r) पूँजी की लागत (K_e) से अधिक है अर्थात् $r > K_e$ ऐसी फर्मों को विकासशील फर्में (Growth Firms) कहा जाता है। विकासशील फर्मों के लिए अनुकूलतम लाभांश नीति लाभांश भुगतान अनुपात (Dividend Payout Ratio or D/P Ratio) के शून्य होने पर होती है अर्थात् जब वे फर्में अपनी समस्त आय को संचित कर लेंगी। उस समय उनके अंशों का बाजार मूल्य अधिकतम (maximise) होगा।

इसके विपरीत, यदि किसी फर्म के पास पर्याप्त रूप से लाभप्रद विनियोग अवसर नहीं हैं अर्थात् जब r, K_e से कम है $r < K_e$ तो आय को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरण करना उचित रहेगा जिससे कि वह उस आय को अन्य कहीं पर विनियोग करके अधिक दर से प्रत्याय अर्जित कर सकें। ऐसी दशा में, फर्म की समस्त आय को अंशधारियों में वितरित करने पर ही अंशों का मूल्य अधिकतम (maximise) होगा। ऐसी फर्मों के लिए अनुकूलतम लाभांश नीति लाभांश भुगतान अनुपात (Dividend Payout Ratio or D/P Ratio) के 100 होने पर होती है।

अन्तिम रूप से, यदि $r = K_e$, तो इस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि आय को संचित किया जाता है अथवा लाभांश के रूप में वितरित किया जाता है। इसका कारण यह है कि सभी D/P अनुपातों (अर्थात् 0 से 100 तक) में अंशों का बाजार मूल्य स्थिर (constant) रहेगा। ऐसी फर्मों के लिए कोई अनुकूलतम लाभांश नीति अथवा D/P Ratio नहीं होती।

वाल्टर मॉडल की मान्यताएँ
(Assumptions of Walter's Model)

(1) **प्रत्याय की दर तथा पूँजी की लागत स्थिर होना** (Constant return and cost of Capital): वाल्टर मॉडल यह मानता है कि फर्म की rate of return (r) तथा इसकी Cost of Capital (k) स्थिर रहती हैं।

(2) **आन्तरिक वित्त** (Internal Financing) : फर्म को समस्त वित्त संचित आय से प्राप्त होता है अर्थात् वित्त के बाह्य साधनों जैसे कि ऋणों अथवा नए समता अंशों के माध्यम से वित्त प्राप्त नहीं किया जाता है।

(3) **100% भुगतान अथवा संचित करना** (100% Payout or Retention) : समस्त आय को या तो लाभांश के रूप में वितरित कर दिया जाता है अथवा तुरन्त ही फर्म में ही आन्तरिक रूप से पुन: विनियोजित कर दिया जाता है।

(4) **प्रति अंश आय और प्रति अंश लाभांश का स्थिर होना** (Constant Earnings Per Share and Constant Dividends Per Share) : महत्त्वपूर्ण घटकों जैसे कि प्रारम्भ की Earning Per Share *i.e.* E तथा Dividend Per Share i.e. D में कोई परिवर्तन न होना। मॉडल में परिणाम ज्ञात करने के लिए E तथा D में परिवर्तन किया जा सकता है परन्तु एक निश्चित मूल्य के निर्धारण में इनके मूल्यों को हमेशा स्थिर माना जाता है।

(5) **असीमित समय** (Infinite Time) : फर्म का जीवनकाल निरन्तर अथवा असीमित रूप से दीर्घ माना जाता है।

(i) **बाह्य वित्त नहीं** (No External Financing) : वाल्टर मॉडल की यह मान्यता है कि फर्म द्वारा सभी विनियोग केवल आन्तरिक वित्त से किए जाते हैं और बाहर से कोई वित्त प्राप्त नहीं किया जाता है। इस मान्यता के अनुसार यह मॉडल केवल उन्हीं फर्मों पर लागू होगा जिनमें केवल समता ही वित्त का अकेला साधन है।

(ii) **स्थिर प्रत्याय दर** (Constant Rate of Return, r) : इस मॉडल की यह मान्यता है कि प्रत्याय की दर (r) स्थिर रहती है। यह एक व्यावहारिक मान्यता नहीं है क्योंकि जब फर्म अपने विनियोगों में वृद्धि करती है तो r में भी परिवर्तन आता है।

(iii) **स्थिर समता पूँजीकरण दर** (Constant Equity Capitalisation Rate, K_e) : इस मॉडल की यह भी मान्यता है कि समता पूँजीकरण दर (K_e) स्थिर रहती है। यह भी एक व्यावहारिक मान्यता नहीं है क्योंकि फर्म में जोखिम की मात्रा में परिवर्तन के साथ-साथ समता पूँजीकरण दर में भी परिवर्तन होता रहता है। K_e दर स्थिर मानकर वाल्टर मॉडल फर्म के मूल्य पर जोखिम के प्रभाव की उपेक्षा करता है।

(i) (b) गोर्डन मॉडल (Gordon's Model)

गोर्डन मॉडल एक अन्य विचारधारा है जो यह मानती है कि लाभांश नीति का फर्म के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। गोर्डन मॉडल निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

(1) **बाह्य वित्त नहीं** (No External Financing) : गोर्डन मॉडल यह मानता है कि कोई भी बाह्य वित्त उपलब्ध नहीं है और केवल संचित आय ही वित्त का एकमात्र साधन है। अत: वाल्टर मॉडल की तरह गोर्डन मॉडल भी यह दावा करता है कि फर्म की लाभांश नीति एवं विनियोग नीति एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(2) **समस्त समता पूँजी वाली फर्म** (All Equity Firm) : इस मॉडल की यह मान्यता है कि फर्म की समस्त पूँजी समता अंशों में है और फर्म ने कोई ऋण नहीं लिया हुआ है।

(3) **कोई कर नहीं** (No Taxes) : कोई कॉरपोरेट कर नहीं है।

(4) **निरन्तर आय** (Perpetual Earnings) : यह मान लिया जाता है कि फर्म का जीवन-काल भी निरन्तर है और इसकी आय भी निरन्तर है।

(5) **स्थिर आन्तरिक प्रत्याय दर** (Constant Internal Rate of Return) : फर्म की आन्तरिक प्रत्याय दर (r) स्थिर मानी जाती है।

(6) **स्थिर पूँजी की लागत** (Constant Cost of Capital) : फर्म की पूँजी की लागत (K_e) स्थिर मानी जाती है।

(7) **स्थिर संचय दर** (Constant Retention Ratio) : संचय दर (Retention Ratio or b) जब एक बार निर्धारित हो जाती है तो यह स्थिर रहती है। अत:

$$g = br$$

Where,
g = growth rate
b = retention ratio
r = rate of return

विकास दर (g) भी स्थिर रहती है।

(8) **पूँजी की लागत विकास दर से अधिक** (Cost of Capital greater than Growth Rate): यह मान लिया जाता है कि पूँजी की लागत (K_e) फर्म की विकास दर से अधिक है। अर्थात् $K_e >$ g or br

(ii) मोडीगिल्यानी एवं मिल्लर विचारधारा अथवा लाभांशों के असंगत होने की विचारधारा (Modigliani and Miller Hypothesis or Theory of Irrelevance of Dividends) :

लाभांशों के फर्म के मूल्य से असंगत होने के पक्ष में सबसे प्रमुख विचारधारा Modigliani and Miller (MM) द्वारा प्रस्तुत की गई है। इस विचारधारा का सार यह है कि फर्म की लाभांश नीति एक निष्क्रिय निर्णय (Passive Decision) है जो फर्म के मूल्य को प्रभावित नहीं करता। लाभांश नीति एक ऐसा निर्णय है जो फर्म को उपलब्ध विनियोग अवसरों पर निर्भर करता है। यदि किसी फर्म के पास पर्याप्त मात्रा में विनियोग अवसर उपलब्ध हैं तो यह इन अवसरों के लिए वित्त जुटाने के लिए लाभांश बाँटने के स्थान पर आय को संचित करेगी। इसके विपरीत, यदि इसके पास अपर्याप्त विनियोग अवसर नहीं हैं तो आयों को लाभांश के रूप में वितरण कर दिया जाएगा।

मान्यताएँ (Assumptions) :

MM विचारधारा निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

(i) **पूर्ण पूँजी बाजार** (Perfect Capital Markets) : फर्म पूर्ण पूँजी बाजार की दशाओं में संचालित होती है जहाँ विनियोक्ता विवेकपूर्ण व्यवहार करते हैं, सभी को आसानी से सभी सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं, कोई भी सौदा लागत एवं प्रर्वतन लागत नहीं होती तथा कोई भी विनियोक्ता इतना बड़ा नहीं है जो प्रतिभूतियों के बाजार मूल्य को प्रभावित कर सके।

(ii) **करों का न होना** (No Taxes) : कर नहीं हैं।

(iii) **स्थिर विनियोग नीति** (Fixed Investment Policy) : फर्म की विनियोग नीति स्थिर है और इसमें परिवर्तन नहीं होता है। इसका अर्थ है कि संचित आयों को नए विनियोगों में लगाने से फर्म के जोखिम की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(iv) **आय की निश्चितता** (Certainty of Earnings) : फर्म में भविष्य के लाभों की पूर्ण निश्चितता है। विनियोजक भविष्य के अंशों के मूल्य और लाभांश का निश्चितता से पूर्वानुमान लगा सकते हैं। MM ने बाद में इस मान्यता को समाप्त कर दिया।

MM विचारधारा के पक्ष में तर्क :

MM यह मानते हैं कि क्योंकि फर्म का मूल्य इसके लाभांश निर्णय पर नहीं बल्कि इसकी आय पर निर्भर करता है अत: अंशधारी भी लाभांश वितरण एवं आय के संचय दोनों को समान मानते हैं। मान लीजिए कि फर्म के पास पर्याप्त विनियोग अवसर हैं तो ऐसी दशा में इसके पास दो विकल्प मौजूद हैं :

(i) फर्म विनियोग प्रोग्रामों के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए आय का संचय कर सकती है, अथवा

(ii) फर्म अंशधारियों में लाभांश के रूप में आयों का वितरण कर सकती है और विनियोग प्रोग्रामों के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए लाभांश के बराबर राशि अंश विक्रय के द्वारा प्राप्त कर सकती है।

यदि फर्म प्रथम विकल्प चुनती है तो यह विनियोग प्रोग्रामों के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए लाभांश वितरण न करके आय को संचित करेगी। यदि किसी अंशधारी को नकद धनराशि की आवश्यकता है तो वह बाजार मूल्य पर अपने कुछ अंशों को बेचकर एक प्रकार का घरेलू लाभांश (Home-made dividend) प्राप्त कर सकता है। इससे अंशधारी के पास अंशों की मात्रा कम रह जाएगी। उसने अपने कुछ अंशों को नकदी के बदले एक नये अंशधारी को दे दिया है। इस सौदे के परिणामस्वरूप न तो फर्म को और न ही अंशधारी को कोई लाभ अथवा हानि होती है। एक अंशधारी से दूसरे अंशधारी के पास अंशों के चले जाने से फर्म का मूल्य भी वही का वही रहता है।

यदि फर्म दूसरा विकल्प चुनती है तो वह अंशधारियों को लाभांश का भुगतान करेगी। अंशधारियों को लाभांश के रूप में नकद धनराशि तो प्राप्त होगी परन्तु फर्म के पास से नकदी चले जाने से फर्म की सम्पत्तियाँ कम हो जाएँगी। जिसके फलस्वरूप, अंशों का प्रति अंश वर्तमान मूल्य कम हो जाएगा। अत: अंशधारियों ने लाभांश के रूप में जो प्राप्त किया वह उनके अंशों के मूल्य में कमी से पूर्णतया प्रभावशून्य (Neutralise) हो जाएगा। अत: अंशधारी लाभांश वितरण एवं आय के संचय के बीच उदासीन हो जाएगा अर्थात् वह इन दोनों को समान समझेगा; जिसका अर्थ है कि लाभांश निर्णय असंगत (Irrelevant) है। फर्म पर भी लाभांश वितरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि लाभांश में चुकाई गई राशि का प्रभाव नए अंशों के विक्रय से प्राप्त राशि से पूर्णतया प्रभावशून्य हो जाएगा।

MM Approach can be explained with the help of the following Illustration e issued :

$$= \frac{₹3,80,000}{₹9.5 \text{ per share}} = 40,000 \text{ shares.}$$

MM विचारधारा की आलोचना (Criticism of MM Approach) :

MM विचारधारा के अनुसार लाभांश का भुगतान और बाह्य स्रोतों से वित्त प्राप्त करना एक दूसरे की पूर्णतः पूर्ति कर देते हैं तथा अंशधारी लाभांश भुगतान और आय के संचय को एक समान समझते हैं। उनका यह निष्कर्ष कुछ मान्यताओं पर आधारित है जो कि व्यवहार में हमेशा सही सिद्ध नहीं होती हैं। आलोचकों के अनुसार अव्यावहारिक मान्यताओं के कारण MM विचारधारा भी अव्यावहारिक ही है। निम्नांकित दशाओं में MM विचारधारा सही सिद्ध नहीं होती :

(i) **कर का प्रभाव** (Tax Effect) : MM विचारधारा की एक मान्यता यह है कि कर नहीं है। इसका अर्थ है कि करों के दृष्टिकोण से आय का संचय (आन्तरिक वित्त) और लाभांश का भुगतान (बाह्य वित्त) एक समान हैं। परन्तु, कम्पनियों को लाभांश वितरण पर कॉरपोरेट लाभांश कर (Corporate Dividend Tax) चुकाना पड़ता है। लाभांश का भुगतान न करके यदि आय को संचित किया जाए तो ऐसे कर से बचा जा सकता है। अतः लाभांश वितरण की तुलना में आय को संचित करने पर कम्पनी के अंशों का मूल्य अधिक होगा।

(ii) **प्रर्वतन व्यय** (Flotation Costs) : MM की यह मान्यता है कि प्रर्वतन व्यय नहीं होते। उनके अनुसार आन्तरिक वित्त (आय का संचय करना) और बाह्य वित्त प्राप्त करना एक समान हैं। इसका अर्थ है कि जब फर्म लाभांश का भुगतान करती है तो वह अपनी विनियोग योजनाओं को पूरा करने के लिए उतनी

ही मात्रा में नए अंशों के विक्रय से बाह्य वित्त प्राप्त कर सकती है। परन्तु प्रर्वतन व्ययों जैसे कि अभिगोपन व्यय, दलाली एवं अन्य व्ययों के कारण आन्तरिक और बाह्य वित्त की दोनों विधियाँ एक समान नहीं हैं। प्रर्वतन व्ययों के कारण नए अंशों के विक्रय से प्राप्त राशि इनके अंकित मूल्य से कम होगी। अतः नए अंशों के विक्रय से बाह्य रूप से वित्त प्राप्त करना आन्तरिक वित्त अर्थात् संचित आयों की तुलना में महँगा होगा।

(iii) **सौदा लागत तथा असुविधा लागत** (Transaction Costs and Inconvenience Costs) : MM की यह मान्यता है कि पूँजी बाजार में कोई सौदा लागत नहीं होती। सौदा लागत से आशय प्रतिभूतियों (अंशों) के विक्रय के समय की लागत जैसे दलाली आदि से है। MM की यह मान्यता है कि यदि लाभांश का भुगतान न किया गया तो जो अंशधारी चालू (या वर्तमान) आय प्राप्त करने के इच्छुक हैं वह अपने अंशों में से कुछ अंशों को बिना सौदा लागत के ही विक्रय कर सकते हैं। यह एक अवास्तविक मान्यता है। क्योंकि अंशों के विक्रय में सौदा लागत लगती है अतः जो लाभांश प्राप्त होता उसके बराबर चालू आय की राशि प्राप्त करने के लिए उन्हें चालू आय से अधिक मात्रा में अंश विक्रय करने होंगे। इसके अतिरिक्त, अंशों का विक्रय करना असुविधाजनक भी है और इनके विक्रय में अनिश्चितता भी है। अतः MM की यह मान्यता उचित नहीं है कि विनियोक्ता लाभांश और संचित आयों में कोई अन्तर नहीं मानते। जो विनियोक्ता चालू (या वर्तमान) आय के इच्छुक हैं वह संचित आय की तुलना में अवश्य ही लाभांश को प्राथमिकता देंगे।

(iv) **संस्थागत प्रतिबन्ध** (Institutional Restrictions) : संस्थागत विनियोक्ता किस प्रकार के समता अंशों में विनियोग कर सकते हैं इस विषय में कानूनी प्रतिबन्ध हैं। अधिकाँश संस्थागत विनियोजकों जैसे LIC, UTI इत्यादि के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल उन्हीं कम्पनियों के अंशों में विनियोग करें जो लाभांश देती हैं। जैसे कि, भारतीय जीवन बीमा निगम केवल उन्हीं अंशों में विनियोग कर सकती है जिन पर पिछले 5 वर्षों से अथवा पिछले 7 वर्षों में से 5 वर्षों में कम से कम 4% लाभांश (बोनस सहित) दिया गया हो। अतः संस्थागत विनियोग के योग्य बनने के लिए कम्पनियाँ संचित आय की अपेक्षा लाभांश देने को प्राथमिकता देंगी।

(v) **समीप बनाम दूरस्थ लाभांश** (Near *Vs* Distant Dividend) : यदि कम्पनी की आय को लाभांश देने के लिए प्रयोग किया जाता है तो ऐसे लाभांश को 'तुरन्त' या 'समीप' (Near) लाभांश कहा जाता है। परन्तु यदि आयों को संचित किया जाता है तो अंशधारियों को कुछ समय उपरान्त अंशों के मूल्य में वृद्धि अथवा बोनस अंश आदि के रूप में प्रत्याय (Return) प्राप्त करने का अधिकार होगा। ऐसे प्रत्याय को 'दूरस्थ' (Distant) लाभांश कहा जाता है। प्रश्न यह है कि क्या विनियोक्ता समीप एवं दूरस्थ लाभांश को समान मानते हैं? अथवा क्या वह इनमें से किसी एक को दूसरे पर प्राथमिकता देंगे? गोर्डन के अनुसार, विनियोक्ता दोनों को समान नहीं मानेंगे और वह समीप लाभांश को दूरस्थ लाभांश की तुलना में अधिक प्राथमिकता देंगे। दूरस्थ लाभांश अनिश्चित होता है और यह विनियोजकों के जोखिम में वृद्धि करता है। इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है कि भविष्य में कितना लाभांश दिया जाएगा और कब दिया जाएगा। अतः अंशधारी संचित आयों की तुलना में वर्तमान लाभांश को प्राथमिकता देंगे।

(vi) **लाभांश की सूचनागत उपयोगिता** (Informational Utility of Dividends) : लाभांश का भुगतान, अंशधारियों को फर्म की लाभप्रदता के विषय में सूचना प्रदान करने का कार्य करता है। जैसे कि यदि कोई फर्म स्थिर लाभांश (Stable Dividend) की नीति अपनाते हुए 3₹ प्रति अंश लाभांश दे रही है और यदि यह इसे बढ़ाकर 4₹ प्रति अंश कर देती है तो इससे यह सूचना प्रसारित होती है कि फर्म भविष्य में लाभों में वृद्धि होने की आशा करती है। लाभांश नीति के परिणामस्वरूप अंश के बाजार मूल्य में परिवर्तन हो जाएगा। अतः MM की यह मान्यता उचित नहीं है कि लाभांश नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(vii) **नये अंशों का कम मूल्यों पर विक्रय होना** (Sale of new shares at lower prices) : MM की यह मान्यता है कि लाभांश में भुगतान की गई राशि की पूर्ति के लिए फर्म नये अंशों को इनके